शब्दार्थ—**परितोषे**=सन्तोष, तृप्ति, प्रसन्नता। वह प्रसन्नता जो किसी विशेष अभिलाषा या इच्छाके पूर्ण होनेसे उत्पन्न हो। **सार**=रक्षा, देखभाल, पालन-पोषण। **सार सँभार**=देख-रेख, पूर्णरूपसे रक्षा, पालन-पोषण।

अर्थ—याचकोंको दान और सम्मानसे खूब सन्तुष्ट किया और पवित्र (सच्चे) मित्रोंको पवित्र प्रेमसे खूब सन्तुष्ट किया॥ ४॥ फिर दासियों और दासोंको बुलाकर उन्हें गुरुजीको सौंपकर हाथ जोड़कर बोले॥ ५॥ हे गोसाईं! इन सबका पालन-पोषण और देख-भाल आप माता-पिताकी तरह कीजियेगा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'जाचक दान मान·····'* इति। ये सूत मागध बंदी आदि हैं। *'दान मान'*—बिना आदरका दान व्यर्थ है, अतः आदरपूर्वक दान देना कहा। (वानप्रस्थ धर्म अङ्गीकार किया है; अतएव जो कुछ द्रव्य था सब लुटा दिया—खर्रा)। (ख) ***'मीत पुनीत प्रेम परितोषे'***—प्रेमसे सन्तुष्ट करनेका भाव यह कि मित्रोंको किसी पदार्थकी चाह नहीं, वे कोई पदार्थ लेनेवाले नहीं; अतएव उनको प्रेमसे सन्तुष्ट किया। प्रेममें यदि पवित्रता न हुई तो वह प्रेम खण्डित है, अतएव ***'पुनीत'*** कहा।

टिप्पणी—२ (क) *'गुरहि सौंपि·····'* गुरुको सौंपनेका भाव कि दासी-दास भगवान्‌को बहुत प्रिय हैं, यथा—***'सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती।'*** (७। १५) इसीसे बुलाकर सौंपा, बुलाकर सौंपनेमें उनका अधिक सम्मान दिखाया और उनको संतोष भी दिया। ***'सौंपि'*** अर्थात् कहा कि ये सेवक घरके हैं, कहीं जानेके नहीं; अतएव आप इनकी खबर लेते रहें। हाथ जोड़ना यह विनम्र भाव है, दूसरे राजा हों तो आज्ञा दे सकें सो ये राजा तो हैं नहीं।—ये दासी-दास वे हैं जो जनकपुरके दाइजमें साथ दिये गये थे, यथा—***'दासीं दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे॥'*** (१। ३३९। २) और जो कौसल्याजीके नैहरके थे (खर्रा)। अवधके जो दासी-दास थे जो इन्हींकी सेवामें रहते थे वे भी सौंपे गये। गुरुको क्यों सौंपा? उत्तर—माता-पिता शोकसे विह्वल हैं। दूसरे, ये गुरु हैं और राजकाज भी इनके अधीन हैं। तीसरे गुरु ही समीप थे। (पं०) चौथा इनका आतङ्क रघुकुल भरपर है, इनके डरसे कैकेयी किसीको दुःख न देगी। (ख) ***'जनक जननी की नाईं',*** से सूचित किया कि रामजी इनकी सार-सँभार माता-पिताकी तरह करते थे।

बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत रामु सब सन मृदु बानी॥ ७॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि तें रहै भुआल सुखारी॥ ८॥
दो०—मातु सकल मोरे बिरह जेहि न होहिं दुख दीन।
सोइ उपाय तुम्ह करेहु सब पुरजन परम प्रबीन॥ ८०॥

अर्थ—बारम्बार दोनों हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजी सबसे कोमल वाणीसे कहते हैं॥ ७॥ वही मेरा सब प्रकारसे हितैषी है जिससे राजा सुखी रहें॥ ८॥ हे परम चतुर पुरवासियो! तुम सब वही उपाय करना जिससे समस्त माताएँ मेरे विरहमें दुःखसे दीन (व्याकुल) न हों॥ ८०॥

टिप्पणी—१ ***'बारहिं बार जोरि जुग पानी।·····'*** इति। (क) सबसे हाथ जोड़कर कह रहे हैं; क्योंकि सब ***'परम प्रबीन'*** हैं। रामचन्द्रजीको बड़ा संदेह है, वे जानते हैं कि पिता और सब माताएँ हमारे वियोगकी विरहाग्निसे जल रही हैं। इसीसे उन्होंने स्वयं उनको समझाया और इन सब पुरवासियोंसे भी हाथ जोड़कर विनती करते हैं कि उन्हें बराबर चतुरतापूर्वक समझाते रहें। [निःशोच करनेमें इस समय श्रीरामजीने सबको बड़ाई दी जिसमें वे सब लोग स्वयं निःशोच हो जायँ। इस विधिसे समझाया यह उनकी प्रवीणता है। (शीला)] (ख) शंका—गुरुसे समझानेके लिये क्यों न कहा? समाधान—वसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं। वे श्रीरामजीका ऐश्वर्य जानते हैं। अतएव उनसे समझानेको न कह सके; क्योंकि यदि कहते तो वे जवाब देते कि आप सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं कि विरहमें पिताका मरण होगा, हम उन्हें क्या समझायेंगे?

टिप्पणी—२ ***'सोइ सब भाँति मोर हितकारी।·····'*** इति। भाव कि जो उनको सुखी रखेगा वह मानो हमारा ही हित कर रहा है। उसका हित हम सब भाँतिसे करेंगे। ***'भुआल'*** सुखी हों अर्थात् इनके सुखी

रहनेसे पृथ्वीभरके लोग सुखी रहेंगे। इसीमें हमारा सब भाँतिका हित होगा। *'जेहि ते'* अर्थात् किसीका नियम नहीं, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, कोई भी हो।

वि० त्रि०—*'मातु सकल'''''।'* अयोध्याकी महारानी लोग अत्यन्त दुःखमें प्रजाके सुख-दुःखको नहीं भूलतीं। कौसल्याका अन्तिम वचन यही है कि *'बेगि प्रजा दुख मेटब आई।'* अतः सरकार प्रजावर्गसे कहते हैं कि आप लोग परम प्रवीण हैं। देखिये माता लोग मेरे विरहसे दुःखी हैं, इसपर यदि आपलोगोंने मेरे वन जानेका शोक मनाया, तो वे दुःखसे दीन हो जायँगी। अतः आपलोग मेरे लिये शोक न मनाइयेगा और भी कोई ऐसी बात न होने दीजियेगा, जिसमें उनको विरहकी तीव्रता बढ़े।

टिप्पणी—३ *'मातु सकल मोरे बिरह'''* इति। श्रीरामजीको सब माताएँ एक समान प्रिय हैं, यथा—*'कौसल्यादि सकल महतारी। रामहि सहज सुभाय पियारी॥'* (*'मातु सकल'* में कैकेयीका भी अन्तर्भाव है। श्रीरामजी जानते हैं कि यद्यपि वह आज दीन-दुःखी नहीं है तथापि उसे आगे पश्चात्ताप होगा और वह दीन-दुःखी होगी।) (प० प० प्र०) विरहसे दुःखी न हों, ऐसा कहनेका अभिप्राय यह कि सबके दुःखका कारण मैं ही हूँ। 'सोइ' अर्थात् जो जिस समय उचित हो सो उपाय करना, कोई एक उपाय मैं तुम्हें क्या बताऊँ, तुम तो स्वयं परम कुशल हो, सब जानते हो।

एहि बिधि राम सबहि समुझावा। गुरुपद पदुम हरषि सिरु नावा॥ १॥
गनपति गौरि गिरीसु मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥ २॥
रामु चलत अति भएउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥ ३॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष बिषाद बिबस सुरलोकू॥ ४॥

शब्दार्थ—**मनाई**=मनाकर, प्रार्थना-स्तुति वा वन्दना करके।

अर्थ—इस प्रकार श्रीरामजीने सबको समझाया और हर्षपूर्वक गुरुजीके चरणकमलोंमें माथा नवाया॥ १॥ गणेशजी, पार्वतीजी और कैलासके स्वामी श्रीशिवजीकी प्रार्थना वा वन्दना करके और (गुरुका) आशीर्वाद पाकर रघुनाथजी चले॥ २॥ श्रीरामजीके चलते ही अत्यन्त विषाद हुआ। नगरका आर्तनाद (दुःख और करुणाका शब्द) सुना नहीं जाता॥ ३॥ लंकामें अपशकुन और अवधमें अत्यन्त शोक होने लगा। देवलोक हर्ष और विषाद दोनोंके वश हो गये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'एहि बिधि राम सबहि समुझावा'* उपसंहार है। इसका उपक्रम *'कहि प्रिय बचन सकल समुझाए।'* (८०। २) 'सब' को समझाना कहा इसी कारण 'राम' पद दिया अर्थात् जो सबमें रमण करते हैं; माधुर्यमें सबको समझाना नहीं बनता, ऐश्वर्यहीमें इसका निर्वाह हो सकता है; इसीसे ऐश्वर्यसूचक नाम दिया गया। (ख) *'गुरुपद पदुम हरषि सिरु नावा'*—गुरुको प्रणाम करनेमें हर्ष (प्रेमपुलक) होना ही चाहिये, यथा—*'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय'''''*, अतएव *'हरषि'* कहा। *'पद पदुम'*—अर्थात् जैसे कमलको देखनेमें आनन्द होता है वैसे ही गुरुपदके दर्शनसे आनन्द होगा। (गुरुजनोंके चरणोंके साथ यह या इसके पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किये जानेकी रीति है।) [*'सुरकाज सँवारन'* चले हैं, इससे हर्ष अर्थात् उत्साह है नहीं तो श्रीराम तो *'बिषमय हरष रहित'* हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'गनपति गौरि गिरीसु मनाई।'''* इति। विघ्ननिवारणार्थ गणेशको मनाया, शत्रु-विनाश-हेतु दुर्गाको मनाया—दुर्गा शत्रुके नाश करनेमें प्रबल हैं, यथा—*'दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन।'* (७। ९१। ७) अथवा, यात्राके समय मङ्गलके लिये इनका स्मरण करनेकी रीति है। [अथवा, गणेशको विघ्नशान्ति और श्रेयके लिये वा आवश्यकता पड़नेपर अनन्तकोटि सेनाके लिये। गौरीको युद्धमें सहायताके लिये तथा विभवके लिये। गिरीशको जय और स्थिरताके लिये। (पण्डितजी) अथवा, वनमें पर्वतका आश्रय लेना होगा, अतएव *'गिरीसु'* नाम दिया। दूसरे ये रावणके इष्टदेव हैं, इससे इन्हें मनाया। (रा० च० मिश्र) अथवा, यहाँ श्रीसीता-राम-लक्ष्मण तीन (दो पुरुष, एक स्त्री) वैसे ही मनाया भी तीनको गणपति, गिरीश (दो पुरुष) और

गौरी (एक स्त्रीको)—इत्यादि भाव लोगोंने कहे हैं पर वस्तुतः मर्यादा-पुरुषोत्तमने इनका स्मरण करके लोकरीतिकी रक्षा की है; नहीं तो अनेकों शिव, दुर्गा, गणेश आदि एक साथ भी मिलकर युद्धमें श्रीरामजीके सम्मुख खड़े नहीं रह सकते, यह वाल्मीकीय आदिसे भी स्पष्ट है।]

टिप्पणी—३ *'चले असीस पाइ'* को अन्तमें रखकर सूचित किया कि सबने आशीर्वाद दिया। गुरुने प्रत्यक्ष दिया और देवताओंने परोक्ष। चले अतएव *'रघुराई'* पद दिया—*'रघि गतौ'* *'रंघति गच्छतीति रघुः।'* सो उसके भी राजा हैं अथवा गणपति-गौरि और गिरीशके मनानेके सम्बन्धसे *'रघुराई'* यह माधुर्य नाम दिया। [पुनः भाव कि इतने बड़े होते हुए भी गुरु और देवताओंको मनाते हैं, राज्यका त्याग करके चले हैं; क्योंकि रघुराई हैं। रघुवंशी राजाओंकी कीर्ति बढ़ानेके लिये तथा राजधर्मका पालन करनेके लिये चले हैं। *'सीतहिं सभय देखि रघुराई।'* (३।१७।२०) *'पंपासरहि जाहु रघुराई।'* (३।३६।११) और *'आगे चले बहुरि रघुराया।'* (४।१।१) भी देखिये। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—४ *'रामु चलत अति भएउ बिषादू'* इति।—विषाद तो पूर्वसे ही था; परंतु अब अवधसे चल दिये अतएव अब *'अति'* विषाद है अर्थात् अब लोग उच्चस्वरसे रो रहे हैं जैसा *'सुनि न जाइ पुर आरत नादू'* से स्पष्ट है। श्रीरामजीके वनगमनका शोक सबको है। शोकके कारण विषाद है, यथा—*'सोक जनित उर दारुन दाहू।'* शोक अत्यन्त है अतएव विषाद भी अत्यन्त है। राज्य त्यागकर कैसे चले हैं यह कवितावलीमें दिया है। *'कीरके कागर ज्यों नृप चीर विभूषण उप्पम अंगनि पाई। औध तजी मग बास के रूख ज्यों, पंथ के साथ ज्यों लोग लुगाई॥ संग सुबंधु पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सोहाई। राजिवलोचन राम चले तजि बापको राज बटाउ कि नाईं॥'* (२। १) *'कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई। मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई॥ संग सुभामिनि भाइ भलो दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई। राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ की नाईं॥'* (२। २)

प० प० प्र०—*'राम सकल आनंदनिधानू'* ही जब सबको छोड़कर चले तब शेष तो अति विषाद रहेगा ही। आनन्दका विरोधी विषाद ही तो है।

टिप्पणी—५ *'कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष…'* इति। यहाँ यथासंख्य अलङ्कारके अनुसार अर्थ है। लंकामें मृत्युसूचक अपशकुन हुए। इससे देवताओंको हर्ष हुआ कि अब राक्षसोंका नाश होगा, हम बन्दीगृहसे छूटेंगे। अवधमें अतिविषाद छाया है उसे देख उनको भी विषाद हुआ, यह सोचकर कि इनके दुःखका कारण हम ही हैं; हमने इनको बिना अपराधके दुःख दिया। *'सुरलोक'* में हर्ष-विषाद हुआ, इस कथनसे सूचित किया कि देवताओंने अपशकुन और विषाद दोनों जान लिये; क्योंकि सर्वज्ञ हैं इसीसे समस्त देवलोकोंमें हर्ष-विषाद व्याप्त हो गया। देवताओंकी ही कुचालसे अवधपर विपत्ति पड़ी फिर वे क्यों दुःखी हुए? शोक और आर्त्तनाद इतना भयंकर था कि उनको भी दुःख लगा। यहाँ देवताओंका स्वभाव दिखाया कि यद्यपि वे अपने स्वार्थके लिये मृत्युलोकके लोगोंको दुःख देनेमें अग्रसर होते हैं तथापि दुःख देख-सुनकर दुःखी भी होते हैं। कारण कि देवताओंमें दया और दान-बुद्धि होती है। मानवोंमें दया और दम (इन्द्रियनिग्रह) है। (प० प० प्र०)

गइ मुरुछा तब भूपति जागे। बोलि सुमंत्र कहन अस लागे॥५॥
रामु चले बन प्रान न जाहीं। केहि सुख लागि रहत तन माहीं॥६॥
एहि तें कवन व्यथा बलवाना। जो दुख पाइ तजहिं* तनु प्राना॥७॥
पुनि धरि धीर कहै नरनाहू। लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू॥८॥

---

* तजिहि—को० रा०, ना० प्र०। तजहिं—राजापुर, रा० प०, भा० दा०। 'तजिहि' पाठ उत्तम जान पड़ता है। पर 'तजिहिं' का अर्थ भी ठीक लग जाता है। अर्थात् क्या इससे भी बढ़कर कोई दुःख है जिसे पाकर प्राण शरीरको छोड़ते हैं?

अर्थ—मूर्छा दूर हुई, तब राजा जगे अर्थात् सचेत हुए और सुमन्त्रको बुलाकर ऐसा कहने लगे॥५॥ राम वनको चल दिये पर प्राण नहीं निकल रहे हैं (न जाने) किस सुखके लिये शरीरमें बने हैं॥६॥ इससे अधिक प्रबल और कौन दुःख होगा, जिस दुःखको पाकर प्राण शरीरको छोड़ते हैं॥७॥ धीरज धरकर फिर राजाने कहा कि हे सखा! तुम रथको लेकर साथ जाओ॥८॥

नोट—*'गइ मुरुछा'*—जब कैकेयीने मुनिपट-भूषण-भाजन लाकर श्रीरामजीके आगे रखे और वचन कहे थे तब राजाको मूर्छा हुई थी, यथा—*'भूपति बचन बान सम लागे।....लोग बिकल मूर्छित नरनाहू'॥* तबसे अब जाकर सचेत हुए। *'बोलि सुमंत्र कहन अस लागे'*—यहाँ ऊपरके *'धरि धीरज'* का अध्याहार करना होगा; (अर्थात् मूर्छा विगत होनेपर धैर्य धरकर उन्होंने सुमन्त्रको बुलाकर कहा); क्योंकि आगे कहते हैं कि *'पुनि धरि धीर कहइ....'* आगे *'पुनि'* शब्द देनेसे पूर्व धीरज धरना सूचित होता है।

टिप्पणी—१ *'रामु चले बन प्रान न जाहीं।....'* अर्थात् प्राणोंको निकल जाना चाहिये था सो मूर्छा होनेपर भी बने रह गये। *'केहि सुख लागि'* से जनाते हैं कि सुख पानेसे प्राण रहते हैं और *'जो दुख पाइ तजहिं....'* से जनाया कि दुःख पाकर प्राण निकल जाते हैं; अतएव यहाँ कहते हैं कि सुखस्वरूप रामजी तो चले गये तो अब सुख कहाँ रह गया जिससे प्राण टिके हुए हैं और राम-वियोगसे अधिक अब कोई और दुःख भी नहीं हो सकता। यथा—*'सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं॥'* तब प्राण निकलते क्यों नहीं? (मिलान कीजिये—*'सीय रघुबर लषन बिनु भय भभरि भगी न आउ। मोहिं बूझि न परत यातें कौन कठिन कुघाउ॥'* (गी० २। ५७)

टिप्पणी—२ *'पुनि धरि धीर कहै नरनाहू....'* इति। 'धीरज' के सम्बन्धमें 'नरनाह' कहा अर्थात् ऐसी व्यथामें प्राप्त होनेपर भी धैर्य धारण करना हर एक मनुष्यका काम नहीं, ये मनुष्योंके स्वामी हैं, राजा हैं। राजा लोग शस्त्रास्त्रके घाव सह लेते हैं, अतएव धैर्य धारण कर लिया।

टिप्पणी—३ *'लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू'*। इति। *'तुम्ह जाहू'* अर्थात् दूसरेको न भेजना तुम स्वयं जाना। पुनः, भाव कि तुम हमारे सखा हो, हमारे प्राणके समान हो, रामजी चले गये, हमारे प्राण सङ्ग न गये, अतएव तुम जो हमारे प्राणके समान हो वही उनके साथ जाओ। जो हित करे वही सखा है, तुम हमारे सखा हो; जिसमें हमारा हित हो वह करो। क्या हित करो यह आगे कहते हैं—*'रथ चढ़ाइ....फिरेहु....'*

दो०—सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गए दिन चारि॥८१॥

अर्थ—दोनों कुमार अत्यन्त कोमल हैं और जानकीजी भी अत्यन्त सुकुमारी हैं। रथमें चढ़ाकर वन दिखलाकर चार दिन बीतनेपर लौट आना॥८१॥

टिप्पणी १—पुरुषोत्तम रामकुमार—भाव कि तीनों अत्यन्त सुकुमार हैं, पैदल चलने लायक नहीं हैं, अतएव रथमें बिठाकर ले जाओ। वनमें रहनेयोग्य नहीं हैं, अतएव वन दिखलाकर लौटा लानेको कहा।

टिप्पणी—२ *'दिन चारि'* अर्थात् बहुत शीघ्र, कुछ ही दिनोंमें। यह अल्पकालका वाचक है, यथा—*'यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गए दिन चारी॥'* (५। ११। ७) याज्ञवल्क्यजीके मतानुसार १४ वर्षको यहाँ चार दिन कहा।

☞राजाकी आज्ञा हुई कि चार दिन गये लौटना, सुमन्त्रजी चार दिन बीत जानेपर पाँचवें दिन आये। *'प्रथमबास तमसा भएउ दूसर सुरसरि तीर।'* तीसरा निवास वृक्षके नीचे हुआ, यथा—*'तेहि दिन भएउ बिटप तर बासू'* और चौथा वास प्रयागमें हुआ—*'राम कीन्ह बिसराम निसि प्रात प्रयाग नहाइ।'* पाँचवें दिन दस बजे यमुनातीरसे निषादराजको बिदा किया। निषाद पहर दिन रहे शृङ्गवेरपुर आये और सुमन्त्रको रथमें चढ़ाकर उसी दिन तमसातटपर पहुँचा दिया, यथा—*'तमसा तीर तुरत रथ आवा।'* (१४७। १) तमसातीरसे सन्ध्या हो जानेपर सुमन्त्र घर आये।

जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ ब्रत रघुराई॥ १॥
तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिअ प्रभु मिथिलेस किसोरी॥ २॥
जब सिय कानन देखि डेराई। कहेहु मोरि सिख अवसरु पाई॥ ३॥

अर्थ—दोनों भाई धैर्यवान् हैं और श्रीरामचन्द्रजी सत्यप्रतिज्ञ और अटल व्रत धारण करनेवाले हैं अर्थात् नियमके पक्के हैं। इससे यदि वे दोनों भाई न लौटें॥ १॥ तो तुम हाथ जोड़कर विनती करना कि हे प्रभो! राजा जनककी पुत्री सीताजीको लौटा दीजिये॥ २॥ जब सीता वनको देखकर डरें तब मौका पाकर उनसे मेरी शिक्षा कहना॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'सत्यसंध'*** हैं, कैकेयीसे वन जानेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं उसे न छोड़ेंगे और ***'दृढ़ ब्रत'*** हैं अर्थात् जो मुनिव्रत, तपस्वी-वेष धारण कर लिया है उसका परित्याग न करेंगे। ***'रघुराई'*** हैं अर्थात् सभी रघुवंशी सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़व्रत होते हैं पर ये सब रघुवंशियोंके राजा हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं। विषयके त्यागमें दोनों भाई धीर हैं। 'सत्यसंध दृढ़व्रत' विशेषण केवल रघुनाथजीको दिये गये; कारण कि वनकी प्रतिज्ञा और व्रत रामजीहीने धारण किया, लक्ष्मणजीने नहीं; ये तो रघुनाथजीकी सेवाके लिये साथ जाते हैं।' [जो आपत्तिमें भी धर्म न छोड़े वह 'दृढ़व्रत' कहलाता है। वा, वानप्रस्थव्रत जो धारण किया उसमें दृढ़ हैं। (खर्रा)]

टिप्पणी—२ ***'तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी।'*** इति। भाव कि हाथ जोड़कर विनती करनेसे वे प्रसन्न होकर लौटा देंगे। ***'फेरिअ प्रभु'*** का भाव कि तुम्हारे कहनेसे वे न लौटेंगी, श्रीरामजी प्रभु अर्थात् समर्थ हैं वे लौटा देंगे। अतः तुम उनसे प्रार्थना करना कि लौटा दें (बालकाण्डमें ***'जनु जीव उर चारिउ अवस्था……।'*** (३२५। छंद ४) की व्याख्यामें बताया गया है कि श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी क्रमशः तुरीया, प्रत्यगात्मा और विश्व-विभु हैं। अतः यह आशा ठीक है कि राम-लक्ष्मण तो लौटेंगे नहीं, पर यदि तुरीया जानकीजी लौटें तो प्राणका अवलम्ब हो जायगा। पर विभुको छोड़कर अवस्था कैसे प्राप्त होगी। अतः श्रीजानकीजीने उचित ही कहा है कि ***'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥'*** (९७। ६) ये वचन बड़ी आतुरतासे राजाने कहे कि इसी बहाने जानकीजी लौट आवें।

नोट—***'मिथिलेस किसोरी'*** का भाव कि मिथिलेशजी हमें और तुम्हें क्या कहेंगे? उनको कितना दुःख होगा। किशोरावस्थावाली अत्यन्त सुकुमारी मेरी कन्याको वृद्ध रघुवंशी राजाने कैसे वन जाने दिया? इत्यादि अनेक शङ्काएँ उनके मनमें उठेंगी। हम मिथिलेशजीको क्या उत्तर देंगे? इन भावोंको सूचित करनेके लिये **'मिथिलेस किसोरी'** शब्द दिया। (पं०, रा० प्र०, प० प० प्र०) पं० रामचरण मिश्रजीका मत है कि यहाँ **'मिथिलेस किसोरी'** पद सरस्वती यथार्थ ही कह रही है, मिथिलाधीश ज्ञानी, संसाररागसे रूखे हैं फिर उनकी पुत्री कैसे संसाररागमें आ सकती है, वह क्यों फिरेगी? पुनः, वात्सल्य-प्रकरणमें मिथिलेश ऐश्वर्यसूचक है और 'किशोरी' पदमें लाड़पनका भाव है।

टिप्पणी—३ ***'जब सिय कानन देखि डेराई।'*** इति। वनके दुःख कौसल्याजीने, रामजीने, दशरथजीने और भी सबने सुनाये। सुननेसे वे न डरीं, अतएव कहते हैं कि 'देखकर अवश्य डरेंगी' बस उसी समय हमारा उपदेश कह सुनाना, मौकेपर उपदेश लग जाता है। क्या सीख है सो आगे कहते हैं। सीख, उपदेश और संदेश तीनों एक ही बातें हैं।

सासु ससुर अस कहेउ संदेसू। पुत्रि फिरिअ बन बहुत कलेसू॥ ४॥
पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥ ५॥

अर्थ—तुम्हारे सास और ससुरने ऐसा संदेश कहा है—'हे पुत्रि! लौट चलो, वनमें बहुत क्लेश (दुःख) होता है॥ ४॥ कभी पिताके घर और कभी ससुरालमें, जब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, रहना॥ ५॥

नोट—१ राजा कोपभवनमें हैं और सुमन्त्रजी कहते हैं कि 'सासु-ससुरने ऐसा संदेशा कहा है' वहाँ

सास कहाँ है? सासका संदेशा कहना कैसे समझा जावे? उत्तर यह है कि जानकीजी कौसल्याजीको बहुत मानती हैं, इसीसे राजाने अपना और कौसल्या दोनोंका संदेशा कहा जिसमें वे लौट आवें (और कौसल्याजी कब न चाहेंगी कि वे लौट आवें)। (प्र० सं०)

नोट—२ श्रीसुनयना अम्बाने श्रीजानकीको उपदेश दिया है कि ***'सासु ससुर गुरु सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥'*** (१।३३४।५) अतः ***'सासु ससुर अस कहेउ'*** से जनाया कि तुम्हारी माताने भी यही उपदेश किया था। सास-ससुर, गुरु और पतिकी भी यही इच्छा है। सासने कहा ही है—***'जौं सिय भवन रहै'''मो कहँ होइ बहुत अवलंबा।'*** (६०।७) गुरुकी भी यही इच्छा है जैसा ***'करहु जो कहहिं ससुर गुर सासू।'*** (७८।८) गुरु नारि आदिके वचनोंसे सिद्ध है और श्रीरामजीने भी कहा है—***'सुमुखि मातुहित राखउँ तोही।'*** (६१।८) (पं० पं० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) ***'पुत्रि फिरिअ'*** यहाँ 'पुत्री' कहनेका भाव वही है जो अर्थ 'पुत्र' शब्दका होता है, जो नरकसे बचावे वह पुत्री है। तात्पर्य कि रामजीके बिना हम सबको नरकका-सा दुःख हो रहा है (यह बात श्रीजानकीजीकी उक्तिमें स्पष्ट है कि ***'तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान'***) तुम्हारे लौटनेसे सबकी इस नरकसे रक्षा होगी। (ख) ***'बन बहुत कलेसू'*** अर्थात् अभी तो वनका आरम्भ है फिर और आगे तो बहुत ही कष्ट होगा।

टिप्पणी—२ ***'पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी'*** इति। पिताका घर प्रथम कहा; क्योंकि लड़कियोंको अपने पिताके घर रहनेकी अधिक रुचि होती है। ***'जहाँ रुचि होइ'*** इसका भाव यह कि जब लड़की नैहरमें रहती है तब माता-पिताकी रुचि और जब ससुरालमें रहती है तब सास-ससुरकी रुचिसे बिदा होती है, इसी विचारसे कहते हैं कि ऐसा न होगा, यहाँ या वहाँ रहना तुम्हारी रुचिपर निर्भर रहेगा।

एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥ ६॥
नाहिं त मोर मरनु परिनामा। कछु न बसाइ भए बिधि बामा॥ ७॥
अस कहि मुरुछि परा महि राऊ। राम लषनु सिय आनि देखाऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—**कदंबा**=समूह, अनेक, बहुत-से। '**त**'=तो।

अर्थ—इस प्रकार बहुत-से उपाय करना। यदि वे लौटें तो मेरे प्राणोंको सहारा हो जायगा॥ ६॥ नहीं तो अन्तमें (इसका परिणाम) मेरा मरण ही होगा। विधाताके वाम (उलटे, विपरीत) होनेसे कुछ वश नहीं चलता॥ ७॥ ऐसा* कहकर राजा जमीनपर मूर्छित हो गिर पड़े (और कहने लगे कि) राम, लक्ष्मण, सीताको लाकर दिखाओ॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ ***'एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा।'*** इति। भाव कि जो उपाय हमने बताया उसे करना और अन्य भी अनेक उपाय करना। 'अवलम्ब हो' इसका भाव यह है कि श्रीसीताजी रामजीकी अर्द्धाङ्गिनी हैं, उनके रहनेसे प्राणोंको रहनेका अवलम्ब मिल जायगा; नहीं तो प्राण नहीं रह सकते, हमारा जीवन श्रीरामजीके अधीन है।

(इससे सूचित किया कि श्रीराम-जानकी दोनों एक हैं जैसा बा० १८ ***'गिरा अरथ जल बीचि सम'*** और मनु-शतरूपा प्रकरणमें दिखाया गया है)।

पुनः, ***'एहि बिधि'''*** का भाव कि हमने श्रीरामजीके रखनेके लिये बहुत उपाय किये थे, तुम सीताजीके रखनेके लिये बहुत उपाय करना। जिस विधिसे हमने कहा है, इसी विधिसे तुम उपाय करना। तात्पर्य कि उपाय सात प्रकारके हैं—साम, दाम, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा और इन्द्रजाल इनमेंसे साम-दाम ये ही दो उपाय काममें लाना।

---

* 'अस' आगे और पीछे दोनोंके साथ है। जो पूर्व कहा कि रथ ले जाओ इत्यादि और आगे जो कहते हैं कि 'रामु लषन सिय' (पंजाबीजी)।

टिप्पणी—२ (क) *'मोर मरनु परिनामा'* अर्थात् जबतक तुम न आ लोगे तबतक हम प्राण रखेंगे। परिणाम=अन्त, प्रतिफल। (ख) *'भए बिधि बामा'* अर्थात् हमारा कोई उपाय नहीं चलता, यथा—*'राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय कीन्ह छल त्यागी॥'* इससे सिद्ध है कि ब्रह्मा विपरीत हैं।

टिप्पणी—३ *'अस कहि मुरुछि परा महि राऊ।'* इति। श्रीराम-लक्ष्मणजीकी ओरसे तो निराश थे ही, यथा—*'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥'* अब सीताजीके लौटनेमें भी संदेह मानते हैं, इनकी ओरसे भी निराश हो रहे हैं; क्योंकि वे सोचते हैं कि ब्रह्मा प्रतिकूल हैं। सब ओरसे निराश होनेपर यह कहते हुए मूर्छित हो गये कि राम, लक्ष्मण और सीताको लाकर दिखाओ अर्थात् जैसा हमने कहा है कि *'रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरेहु गये दिन चारि'* वैसा ही करना, साथ शीघ्र लौटा लाओ।

रा० च० मिश्र—*'राम लषनु सिय आनि देखाऊ'* इति। यहाँ उत्तरोत्तरक्रम *'आनि'* और *'देखाऊ'* के साथ सम्बन्धित किया है। यदि सत्यसन्ध दृढ़व्रत होनेके कारण रामजी न लौटें और उनकी सेवामें रहनेके कारण लक्ष्मणजी भी न लौटेंगे तब सीताजीके फेरनेको कह रहे हैं अतएव 'राम' पदके आगे 'लषन' पदका अन्तर देकर 'सिय' पदको *'आनि'* और *'देखाऊ'* पदका संयोगी बनाया।

दो०—पाइ रजायसु नाइ सिरु रथु अति बेग बनाइ।
गयेउ जहाँ बाहेर नगर सीय सहित दोउ भाइ॥ ८२॥

अर्थ—राजाकी आज्ञा पाकर माथा नवाकर सुमन्त्रजी बहुत शीघ्र चलनेवाला रथ तैयार करके (अर्थात् उसमें बहुत तेज चलनेवाले घोड़े जोतकर) नगरके बाहर जहाँ सीतासहित दोनों भाई थे, वहाँ गये॥ ८२॥

तब सुमंत्र नृप बचन सुनाए। करि बिनती रथ रामु चढ़ाए॥ १॥
चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहि सिरु नाई॥ २॥
चलत रामु लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥ ३॥

अर्थ—तब सुमन्त्रने राजाके वचन (रथ चढ़ाइ देखराइ बनु) श्रीरामजीको सुनाये और विनती करके उनको रथपर चढ़ाया॥ १॥ दोनों भाई सीतासहित रथपर चढ़कर हृदयमें अयोध्यापुरीको प्रणाम करके चले॥ २॥ श्रीरामजीको जाते हुए और अवधको अनाथ देखकर सबलोग व्याकुल होकर साथ चले॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) पिताकी आज्ञा सुनायी कि रथपर चढ़ाकर वनमें घुमाकर चार दिनमें लौटा लाना, आज्ञा सुनानेका कारण यह है कि सुमन्त्रके कहनेसे न चढ़ते। राजाकी आज्ञासे सङ्कोचमें पड़कर चढ़े थे, यह स्पष्ट ही है क्योंकि उसपर भी मन्त्रीको बहुत प्रार्थना करनी पड़ी। (ख) पहले श्रीसीताजी रथपर चढ़ीं, तब श्रीरामजी और इनके पीछे लक्ष्मणजी, यह नीति और रीति है, यथा—*'राम सखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई॥'* (१५१। ३) (यह सुमन्त्रने लौटकर राजासे कहा है)।

टिप्पणी—२ अयोध्यापुरी महान् तीर्थ है, सत पुरियोंमें इसको मस्तकरूप (सबसे श्रेष्ठ) कहा है, पुनः, यह महात्मा राजाओंकी राजधानी है। इसीसे प्रणाम करके चले। हृदयमें प्रणाम करनेका भाव कि यह दिव्य पुरी है, हृदयमें उसकी मूर्तिका ध्यान करके सिर नवाया।

नोट—रा० प्र० कारका मत है कि बाहर सब लोगोंके सामने प्रत्यक्ष प्रणाम करते तो सम्भव था कि दुष्ट लोग समझते कि इसमें इनका बड़ा मोह है, इसे छोड़ना नहीं चाहते। अथवा, मानसिक प्रणाम बाहरी प्रणामसे श्रेष्ठ है। ऐसा करके अपना अत्यन्त प्रियत्व जनाया। वन्दन पाठकजी लिखते हैं कि अवधको प्रणाम क्यों न करते, अवध ही तो उनको वनका राजा बना रहा है। वाल्मीकीयमें प्रत्यक्ष प्रणाम करना कहा है। सर्ग ५० में वाल्मीकिजी लिखते हैं कि—'**विशालान्कोसलान् रम्यान्यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः। अयोध्यामुन्मुखो धीमान्प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥ आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते। दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च॥ निवृत्तवनबासस्त्वामनृणो जगतीपतेः। पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः॥**' (२। १—३) अर्थात् विशाल रमणीय कोशल देशको पार करके अयोध्यापुरीकी ओर मुँह करके रामजी

हाथ जोड़कर बोले कि हे काकुत्स्थ नरेशोंद्वारा परिपालित पुरिश्रेष्ठ! मैं तुमसे, तुमको पालन करने तथा तुममें निवास करनेवाले देवताओं इत्यादिसे वन-जानेकी आज्ञा माँगता हूँ। अवधि पूरी होनेपर राजासे उऋण होकर मैं पुनः तुम सबका दर्शन करूँगा।—इस तरह यह विदाका प्रणाम है।

नोट—२ लङ्कासे लौटनेपर भी जब पुष्पकविमानपरसे अवधपुरी दिखायी पड़ी तब भी उसे प्रणाम किया है, यथा—*'पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिधताप भवरोग नसावनि। सीता सहित अवध कहँ कीन्ह कृपाल प्रनाम। सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषित राम॥'* (लं० ११९) प्रणाम करके उसका महत्त्व दिखाते हैं।

यहाँ अवधमें जो प्रेम है उसे प्रकट न करनेमें त्याग वीरता दर्शित होती है। प्रसिद्ध ऐश्वर्यका त्याग किया, सूक्ष्म रीतिसे प्रीति रखी। (वै०)

नोट—३ पण्डितजी—प्रणाम किया क्योंकि *'मम धामदा पुरी सुखरासी।'* (७। ४। ७)। है, असंख्यों राम बनाती है। जिनका शरीर छूटता है वे सब रामरूप हो जाते हैं।

टिप्पणी—२ *'चलत रामु लखि अवध अनाथा'* इति। श्रीरामजीके माथा नवानेसे यह सन्देह होता कि अयोध्याका नाथ कोई अलख निरञ्जन दूसरा है; अतएव उसके निवारणार्थ कहते हैं कि यह बात नहीं है, रामजी ही इसके नाथ हैं, उनके बिना यह अनाथ हो गयी। *'लखि'* अर्थात् अनाथ तो प्रत्यक्ष दीख रही है, जैसा आगे कहते हैं—*'लागति अवध···'* ☞ *'चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहिं सिरु नाई॥'* यात्राके लिये यह मङ्गलकारक मूलमन्त्र है। इसका जप मङ्गलकारक होता है।

कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेम बस पुनि फिरि आवहिं॥ ४॥
लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥ ५॥

शब्दार्थ—**कालराति**=प्रलयकी रात, ब्रह्माकी रात्रि, मृत्युकी रात्रि, ज्योतिषमें रात्रिका वह भाव जिसमें किसी कार्यका आरम्भ करना निषिद्ध समझा जाता है, दिवालीकी अमावस्या, मनुष्यकी आयुमें वह रात जो सतहत्तरवें वर्षके सातवें महीनेके सातवें दिन पड़ती है और जिसके बाद वह नित्यकर्म आदिसे मुक्त समझा जाता है।—(शब्दसागर) लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि तीन रात्रियाँ प्रसिद्ध हैं—१ कालरात्रि, २ शिवरात्रि (महारात्रि), ३ मोहरात्रि (जन्माष्टमीकी रात्रि)। दिवालीकी रात्रि तन्त्रशास्त्रानुसार बड़ी भयानक मानी गयी है, क्योंकि इसी रात्रिको अनेक तन्त्र-मन्त्र जगाये जाते हैं। उसकी भयानकता ही घटनाके लिये दीपक जलानेकी रीति प्रचलित है।

अर्थ—दयासागर रामजी बहुत तरह समझाते हैं, समझानेपर वे लौट जाते हैं अर्थात् अयोध्याकी ओर चलने लगते हैं, पर प्रेमवश फिर लौट आते हैं॥ ४॥ अवधपुरी बहुत डरावनी लग रही है, मानो (अयोध्या नहीं है किंतु) अँधेरी कालरात्रि है॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं···'* इति। क्यों लौटाते हैं? क्योंकि 'कृपासिंधु' हैं, पुरवासियोंपर बड़ी कृपा रखते हैं, उनको साथ जानेमें बड़ा दुःख होगा, उनका दुःख वे सह नहीं सकते। (देखिये, कैसा उत्कृष्ट भाव है? आगे जब तमसा नदीपर श्रीरामजी इनको सोता छोड़कर चल देते हैं तब देखिये, ये छोड़नेका कारण स्वयं ही क्या बताते हैं—*'तजे राम हम जानि कलेसू।'* भावी राजापर प्रजाका कैसा विश्वास है? वह खूब समझती है कि ये हमारे दुःखसे दुःखी हैं; हमारे सुखमें सुखी हैं। जिसके प्रति प्रजाका ऐसा दृढ़ विश्वास है वस्तुतः वही राजा कहलाने योग्य है)। कृपाके कारण ही वे बहुत समझा रहे हैं—कि राजा तो बने ही हैं, तुम्हारा पालन-पोषण भलीभाँति करेंगे जैसा होता आया है, पिताकी आज्ञा पालन करना हमारा धर्म है, हम शीघ्र ही लौटेंगे, १४ वर्ष बहुत नहीं हैं, भरत बड़े धर्मात्मा हैं, वे आकर तुम्हारा पालन-पोषण करेंगे·····इत्यादि-इत्यादि।

नोट—२ *'लागति अवध भयावनि भारी।····'* इति। (क) श्रीरामजीके पास फिर लौट-लौट जानेका एक कारण तो 'प्रेम' बताया, अब दूसरा कारण यह बताते हैं। अँधेरी रातमें स्वाभाविक ही डर लगता

है। और जहाँ काल वर्तमान है वहाँ भी डर लगता है। वहाँ तो 'अँधियारी' और 'कालरात्रि' दोनों ही वर्तमान हैं; अतएव *'भारी भयावनी'* कहा। (ख)—किसीको कुछ सूझता नहीं इसीमें *'अँधियारी'* कहा और राम-बिना सब मृत्युप्राय हो रहे हैं अतएव *'कालराति'* कहा। अथवा, कालरात्रि है अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानो खाना ही चाहती है। (ग)—*'मानहुँ'* से जनाया कि अवधवासियोंके लिये अयोध्या कालरात्रि नहीं है, पर कालरात्रिके समान इस समय भयानक लग रही है। इसीसे उत्प्रेक्षा करते हैं। जहाँ साक्षात् कालरात्रि है वहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द नहीं रहता, यथा—*'कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीतापर प्रीति घनेरी॥'* अर्थात् सीताजी निशाचरोंकी कालरात्रि हैं, नाश करके ही टलेंगी।

नोट—*'लागति अवध भयावनि''''अँधियारी'* इति। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि नगरकी शोभा बिलकुल नष्ट हो गयी थी। वह पुरवासियोंको तारागण तथा चन्द्रहीन आकाशके समान, जलहीन समुद्रके समान देख पड़ती थी। वह उस समय अन्धकारसे पोती हुईके समान हो गयी थी—**'चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्। अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः॥'** (४७। १७) **'अयोध्यानगरी चासीन्नष्टतारामिवाम्बरम्।'** (४८। ३५) **'तिमिरेणानुलिप्तेव तदा सा नगरी बभौ।'** (४८। ३४)—ये सब भाव *'भयावनि भारी'* के हैं।

घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥ ६॥

घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥ ७॥

अर्थ—नगरके स्त्री-पुरुष भयानक जन्तु (जीव) के समान हैं, एक-एक (दूसरे) को देखकर डरते हैं॥ ६॥ घर मरघट और कुटुम्बी मानो भूत हैं। पुत्र, हितैषी (नातेदार) और मित्र मानो यमदूत हैं॥ ७॥

नोट—१ पुरकी भयानकता कहकर अब पुरवासियोंका हाल कहते हैं। अयोध्याकी उत्प्रेक्षा कालरात्रिसे की गयी, अब उसके भीतर भयानक जीव चाहिये सो बताते हैं कि पुरवासी ही बाघ, सिंह और सर्पके समान हैं; इसीसे एक-एकको देख-देखकर डरते हैं। यह पुरका हाल हुआ, आगे घर-घरका हाल कहते हैं। अयोध्याको 'भारी' भयावनी कहा, अतएव वहाँके स्त्री-पुरुषोंको 'घोर' जन्तुके समान कहा।

नोट—२ अयोध्याको प्रलयकी रात्रि कहा। प्रलयमें श्मशान बहुत-से चाहिये। यहाँ लाखों घर ही लाखों मरघट हैं। श्मशानमें भूत रहते हैं, यहाँ कुटुम्बी भूत हैं। वहाँ यमदूत आकर प्राणीको पकड़कर यमपुरीको ले जाते हैं, यमदूतोंको देखकर डर लगता है; वैसे ही यहाँ पुत्र, नातेदार और मित्रोंको देखकर डर लगता है कि हमें पकड़कर अयोध्याको ले जायँगे, श्रीरामजीसे हमारा वियोग करायँगे।

यहाँतक जंगमकी व्याकुलता कही, आगे स्थावरकी कहते हैं।

नोट—३ *'घोर जंतु सम''''''* इति। (वाल्मी० २। ४७। १९) **'नैव प्रजग्मुः स्वजनं परं वा निरीक्षमाणाः प्रविनष्टहर्षाः।'** (अर्थात् वे देख रहे थे, पर कौन अपना है तथा कौन बिराना है यह वे न जान सके) को गोस्वामीजीने कितनी सुन्दरतासे वर्णन किया है।

बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥ ८॥

दो०—हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुरपसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर॥ ८३॥

राम बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥ १॥

शब्दार्थ—**'रथांग'**-रथका अङ्ग चक्र; अतएव चक्रवाकका अर्थ हुआ।

अर्थ—बागोंमें वृक्ष और बेलें कुम्हला रही हैं, नदी और तालाब देखे नहीं जाते॥ ८॥ करोड़ों घोड़े, हाथी, क्रीड़ाके पशु, नगरके पशु (गाय, बैल आदि), चातक, मोर, कोयल, चकवा, तोता, मैना, सारस, हंस और चकोर—॥ ८३॥ ये सब श्रीरामजीके वियोगमें ऐसे व्याकुल खड़े हैं, मानो जहाँ-तहाँ तसवीरें काढ़ी हुई (खिंची हुई) खड़ी हैं अर्थात् हिलते-डोलते नहीं॥ १॥

टिप्पणी—१ *'कुम्हिलाहीं'*=सूखे या मुर्झाये जाते हैं। *'देखि न जाहीं'* अर्थात् शोभाहीन हो गये हैं। चेतनमें नरनारियोंकी व्याकुलता कही, अब जड़ोंमें नरनारियोंकी विकलता कहते हैं। विटप पुरुष हैं, बेलि स्त्री हैं। सरिता स्त्री, सरोवर पुरुष। श्रीरामजीके विरहाग्निमें वृक्ष और लताएँ मुरझा गयीं, नदी और तालाबोंका जल गर्म हो गया; क्योंकि श्रीरामजी सबके आत्मा हैं—*'प्रान प्रानके जीवन जी के।'*

टिप्पणी—२ हाथी, घोड़े केलिमृग इत्यादि सब नदी-तालाबके पास पानी पीने आते हैं, यथा—*'दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं बाजि गज ठाटा॥'* चातक मोर आदि पक्षी बागोंमें आते हैं। अतएव बाग, नदी और तालाबको प्रथम कहकर पशु-पक्षियोंको कहा। यहाँतक जीवोंकी तीन कोटियाँ कहीं—१ नर-नारी चैतन्य हैं, २—विटप बेलि जड़ हैं, ३—पशु-पक्षी न केवल चेतन हैं, न केवल जड़ ही।

टिप्पणी—३ *'राम बियोग बिकल सब ठाढ़े।'''''* इति। *'लिखि काढ़े'*=लिखकर निकाले गये हैं अर्थात् चितेरेने मानो लिखकर प्रकट किया है, न हिलें डोलें न बोलें। पशु-पक्षियोंकी व्याकुलताका वर्णन करनेका अभिप्राय यह है कि जब ये ऐसे विकल हैं कि जिनको कुछ ज्ञान नहीं है तब भला मनुष्योंकी व्याकुलता कौन वर्णन कर सकता है, यथा—*'जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहिं कैसे॥'* 'राम-वियोगका' भाव कि राम सबके आत्मा हैं सबमें रमते हैं; अतएव उनके वियोगमें सब जड़वत् हो गये हैं।

नोट—१ श्रीरामजीके पाससे लौटनेपर सुमन्त्रजीने अयोध्याजीकी कुछ ऐसी ही दशा देखी और राजासे कही है। वह यह है कि दुःखसे दुःखी होकर वृक्ष भी फूलों और अंकुरोंसहित मुर्झा गये, नदी और तालाब सूख गये, बाग शून्य हो गये, पक्षी चुप हो गये, इत्यादि। (वाल्मी० सर्ग ५९। श्लोक ४—९) सर्ग ४०, ४१, ३३ भी देखिये [पूर्व जो कहा है कि—*'जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिनु तन चंद बिनु जिमि जामिनी। तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी॥'* (५० छंद) उसीका यहाँ विस्तार किया गया है। (प० प० प्र०)]

नगरु सफल* बनु गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर नारी॥ २॥
बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेंहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं॥ ३॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥ ४॥

शब्दार्थ—**गहबर**=सघन, गम्भीर। गुफा, कुंज, यथा—'**गह्वरस्तु गुहादम्भनिकुञ्जगहनेष्वपीति विश्वकोशे।**' (बैजनाथ)।

अर्थ—नगर फलसे लदा हुआ सघन भारी वन है, सब स्त्री-पुरुष उसके बहुत-से (अनेक) पशु-पक्षी हैं॥ २॥ ब्रह्माने कैकेयीको भीलिनी बनाया जिसने दसों दिशाओंमें न सही जानेवाली दव (वनाग्नि) लगा दी॥ ३॥ लोग रघुकुलश्रेष्ठ रामजीकी विरहकी अग्निको सह न सके, (अतः) वे सब व्याकुल होकर भाग चले॥ ४॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमारजी—१ *'नगरु सफल बनु गहबर भारी।'''''* इति। (क) *'सफल बन'* का भाव यह कि नगर सब पदार्थोंसे परिपूर्ण है, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों फल देता है। (पाँड़ेजीके मतानुसार नगररूपी वन रामराज्याभिषेकरूपी फलसे फला हुआ है)। नगरकी बस्ती सघन है; अतएव वनको भी '**गहबर**' कहा। नगर बड़ा 'भारी' है, ४८ कोस लंबा और १२ कोस चौड़ा है, अतएव वनको भी

* राजापुर, काशिराज, बन्दनपाठकजी, भगवानदासजी इत्यादिकी प्रतियोंमें 'सफल' पाठ है। ना० प्र० ने 'सफल' पाठ दिया है। 'सफल' से स्थावर-जंगम दोनोंका ग्रहण है।—सू० मिश्र।

'भारी' कहा। जब ऐसे भारी नगररूपी वनमें आग लगी तब फिर जल्द कैसे बुझेगी, वह तो १४ वर्षतक जलती रहेगी। वन सघन गम्भीर भारी और फलयुक्त है, इसीसे वहाँ पक्षी बहुत रहते हैं; उनको वहाँ बड़ा आराम है। (ख) यहाँ पशु-पक्षियोंकी व्याकुलताका प्रकरण चल रहा था, यथा—'**हय गय कोटिन्ह केलिमृग**…।' अतएव पक्षियोंके रूपकसे पुरवासियोंकी व्याकुलता कहने लगे हैं—'***खगमृग बिपुल सकल नरनारी।***' श्रीरामजीके बिना नगर वनके समान है, इसीसे वनका रूपक बाँधा है।

टिप्पणी—२ '***बिधि कैकई किराततिनि कीन्हीं*** …' इति। (क) भाव कि कैकेयी किराततिनी नहीं है, वह तो रामजीको बहुत प्यार करती थी, यथा—'***प्रानतें अधिक राम प्रिय मोरे।***', दैवने उसे किराततिनी बना दिया अर्थात् दैवमायावश होनेके कारण उसने किराततिनीका काम किया। दैवने अपना काम साधनेके लिये उसे ऐसा बना दिया। इस कथनसे वक्ताने उसको निर्दोष किया। (ख)—दसों दिशाओंमें विरहकी अग्नि उत्पन्न कर दी—४ दिशाएँ ४ उपदिशाएँ और ऊपर-नीचे, वृक्षोंकी टहनी, फुनगी और जड़में। तात्पर्य यह कि नगरकी आठों दिशोओंमें, ऊँचे महलोंमें और नीचे सभी विरहाग्निमें जल रहे हैं।

टिप्पणी—३ '***सहि न सके रघुबर बिरहागी***' इति। विरहाग्नि दुःसह है। '***रघुबर बिरहागी***' का भाव कि जैसे रामजी रघुकुलमें श्रेष्ठ हैं वैसे ही उनके विरहकी अग्नि जलानेमें श्रेष्ठ है। सब लोग बड़े वेगसे खग-मृगकी तरह भाग चले। पुरवासी बहुत हैं, अतः खग-मृग भी विपुल कहे गये।

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लषन सिय बिनु सुखु नाहीं॥५॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥६॥
चले साथ अस मंत्रु दृढ़ाई। सुर-दुर्लभ सुख सदन बिहाई॥७॥
राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥८॥

अर्थ—सबने मनमें विचार किया कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताके बिना सुख नहीं है॥५॥ जहाँ श्रीरामजी रहें वहीं सब समाज रहेगा। रघुवीरके बिना अवधमें (रहनेका कुछ) काम नहीं॥६॥ ऐसा मन्त्र (सलाह, मन्तव्य) पक्का करके वे देवताओंको भी दुर्लभ सुख और ऐसे सुखवाले घरोंको छोड़कर साथ हो लिये॥७॥ जिनको श्रीरामजीके चरणकमल प्यारे हैं, उन्हें भला विषय-भोग कभी वशमें कर सकते हैं? अर्थात् नहीं॥८॥

टिप्पणी पुरुषोत्तम रामकुमार—१ '***राम लषन सिय बिनु सुखु नाहीं***' इति। इससे जनाया कि अवधवासी रामजीसे ही सुखी हैं और किसी सुखसे सुखी नहीं हैं, यथा—'***तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही।***' (२९१। ३)

टिप्पणी—२ '***अवध नहिं काजू।***'—देखिये यही उपदेश श्रीसुमित्रा अम्बाजीने लक्ष्मणजीको दिया था—'***जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥***' (७४। ४) '***जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू***' का भाव कि राम सब सुखोंके धाम हैं, यथा—'***सो सुखधाम राम अस नामा।***' (१। १९७) उनके साथ समाजको सब सुख है। 'रघुबीर' का भाव कि श्रीरामजी दयावीर हैं, दानवीर हैं। उनके साथ रहनेसे वे दया भी करेंगे और पालन भी करेंगे; अतएव अवधमें हमारा कौन काम है?

टिप्पणी—३ '***सुर-दुर्लभ सुख सदन***…' इति। (क) सत्योपाख्यानमें लिखा है कि इन्द्रादिक देवताओंने अयोध्याजीको देखकर ब्रह्माजीसे कहा कि आपने हमको ठग लिया। तब ब्रह्माने समझाया कि अयोध्या दिव्य है, महावैकुण्ठ है, यहाँके निवासी परिषद् हैं। बालकाण्डमें भी कहा है कि '***नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिं बिधि पाहीं॥***' (३६०। २) (ख) यहाँ मन्त्र दृढ़ करनेको कहते हैं आगे इसीको जहाज कहना है, जहाज दृढ़ होना चाहिये। इसीसे मन्त्रका दृढ़ करना कहते हैं।

टिप्पणी—४ '***राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं।***' ……इति। कमल जलमें रहते हुए भी उससे पृथक्

रहते हैं, वैसे ही रामचरणकमलके प्रेमी अवधवासी विषय-भोग करते हैं, पर उसके वश नहीं हैं। क्योंकि जो सुख चरणकमलमें है वह विषय-भोगमें नहीं। यथा—*'सात टूक कोपीनकी औ भाजी बिनु लोन। तुलसी रघुबर उर बसें इन्द्र बापुरो कौन॥'* पुनः, विषय-भोग मनको वश कर लेता है और इनके मन चरणकमलोंमें भ्रमरकी तरह लुब्ध हैं तो विषय-बबूल-पुष्पके वश कैसे हो सकते हैं?

दो०—बालक बृद्ध बिहाइ गृह लगे लोग सब साथ।
तमसा तीर निवासु किय प्रथम दिवस रघुनाथ॥८४॥

अर्थ—घरमें बच्चों बूढ़ोंको* छोड़कर सभी लोग साथ लगे। पहले दिन रघुनाथजीने तमसा नदीके तट (किनारे) पर वास किया॥८४॥

टिप्पणी—१ बालक-वृद्ध दौड़ नहीं सकते और इस समय रथके साथ दौड़ते हुए चलना है। पूर्व कह भी आये हैं कि अयोध्यावासी अयोध्यासे भाग निकले—*'चले लोग सब ब्याकुल भागी।'* अतएव *'बालक बृद्ध बिहाइ'* कहा।

टिप्पणी—२ *'तमसा तीर''''रघुनाथ'* भाव कि लोगोंका दुःख देखकर श्रीरामचन्द्रजी तमसाके समीप ठहर गये, नहीं तो गङ्गातटपर निवास करते। पुनः भाव कि ज्योतिषमें ऐसा लिखा है कि यात्रामें प्रथम दिन अपने सिवानेमें रहे। अतएव तमसापर रुक गये।

टिप्पणी—३ *'प्रथम दिवस'* कहकर जनाया कि आजसे ही १४ वर्षकी गिनती प्रारम्भ हो गयी। आज वनवासका प्रथम दिन हुआ।

नोट—१ यहाँ आज रघुनाथजी निराहार ही रह गये, केवल जल ग्रहण किया था। यह वाल्मीकीयमें स्पष्ट है। सर्ग ४६ श्लो० १०—'**अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्। एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति॥**' अर्थात् हे लक्ष्मण! यद्यपि यहाँ फल आदि भोजनके पदार्थ हैं पर आज जलपर रहनेकी इच्छा है। और सुमन्त्रजीने भी राजासे ऐसा ही कहा है—*'न्हाइ रहे जल पान करि सिय समेत दोउ बीर।'* (१५०) चैत्र शुक्ल नवमीको वनवास हुआ।

नोट—२ '**तमसा**' एक छोटी नदी जो अयोध्याके पश्चिमसे निकलकर बलियाके पास गङ्गामें मिलती है। इसी तमसाके तटपर श्रीराम-सीता-लक्ष्मणजी ठहरे थे। इससे आगे चलकर गोमती और गङ्गा पड़ी थीं—(श० सा०)। इसे टौंस भी कहते हैं।

लालासीतारामजी (डिप्टीकलेक्टर पेंशनर) लिखते हैं कि—वाल्मीकिजी तमसाको उत्तरङ्गा नदी कहते हैं। आजकल इसको मड़हा कहते हैं। यह छोटी नदी अयोध्यासे ६ कोस दक्खिन बहती है। १८ कोस पूर्व जाकर अकबरपुरसे थोड़ी दूरपर बिसुईसे मिलती है और उसके आगे टोंसके नामसे प्रसिद्ध है जो तमसाका अपभ्रंश है। मड़हा गर्मीके दिनोंमें कभी-कभी सूख जाती है। परंतु बरसातमें इसका पाट आध-मीलतक हो जाता है। उसके आस-पास बहुत-से ताल और झीलें हैं। इसमें एक झील बरन भी है। वारण संस्कृतमें हाथीको कहते हैं और यह प्रसिद्ध है कि इसमें महाराजा दशरथके हाथी रहते थे। इसीके पास बाजार बसा हुआ है। भरतकुण्डसे पूर्व दो कोसपर ताड़डीह गाँव है। उसमें इस नदीका एक घाट रामचौराके नामसे प्रसिद्ध है। जहाँ श्रीरामचन्द्रजी पहले दिन ठहरे थे।

रायसाहब पं० परमेश्वरदत्त मिश्र डि० सुपरिन्टेंडेन्ट पुलिसने सम्पादकसे अपनी यात्रा जो वर्णन की उसके अनुसार कनकभवन श्रीअयोध्याजीसे श्रीसीताराम-निवास स्थान ७ कोस है। १४ क्रोशी परिक्रमामें घपाप कुण्ड एक पड़ता है जहाँसे नन्दिग्राम रास्तेसे आधमील दाहिने छूट जाता है। भरतकुण्डसे लगभग एक मील आगे सुलतानपुर-प्रतापगढ़वाली सड़क कच्ची सड़कसे मिलती है। इसके सामने चकिया नामक

* दूसरा अर्थ—बच्चे, बूढ़े सभी लोग घरोंको छोड़कर साथ हो लिये। यथा—'ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता। राममेवाभिदुद्राव घर्मार्तः सलिलं यथा॥' (वाल्मी० २। ४०। २०)

गाँव मिलता है जहाँ एक ब्राह्मणका घर है और बाकी सब केवट आदिके घर हैं। इसी जगह तमसा नदीका पत्थर गड़ा है जहाँ प्रभु सियलषन-सहित ठहरे थे। नगर-निवासी नन्दिग्रामसे लेकर चकियातक फैले पड़े रहे। रामरथीवीताल गाँव वह स्थान है जहाँसे अवधवासियोंको फिर रास्तेके चिह्न नहीं मिले।

(नोट—चित्रकूटको पैदल जानेके इच्छुकोंके लिये सरकारोंके चित्रकूट पहुँचनेके पश्चात् रास्तेका पूरा ब्योरा लिखा जायगा।)

रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी। सदय हृदय दुखु भएउ बिसेषी॥ १॥
करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहि पीर पराई॥ २॥

अर्थ—प्रजाको प्रेमके वश देखकर श्रीरघुनाथजीके दयालु हृदयमें बड़ा दुःख हुआ॥ १॥ गोस्वामी रघुनाथजी करुणामय (दयाके स्वरूप ही) हैं। वे दूसरेकी पीर (पीड़ा, दुःख) शीघ्र पाते हैं अर्थात् दूसरेकी पीड़ा देख स्वयं पीड़ित हो जाते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी'* इति। प्रजाका प्रेम प्रत्यक्ष देख पड़ता है। प्रेमके मारे व्याकुल हैं। घरका सुख सब छोड़ दिया और साथमें दुःख उठानेको तैयार हैं। अतएव *'देखी'* पद दिया। प्रेमके वश देखा इसीसे दया आ गयी, क्योंकि श्रीरामजी प्रेम होनेसे कृपा करते हैं, यथा—*'राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम।'* (६। ११६) *'दुखु भएउ बिसेषी'* से जनाया कि रामजीको प्रजा एक तो प्रजा-भावसे प्रिय है, यथा—*'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'* (१७२। ४) दूसरे प्रेमभावसे भी प्रिय है, यथा—*'रामहि केवल प्रेम पियारा।'* (१३७। १) अतएव वे विशेष दुःखी हुए। पुनः ये दयालु-चित्त हैं इससे अधिक दुःख हुआ, यथा—*'जनके दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधान की।'* (गी० ५। ११) (जिसके हृदयमें दया है वही दूसरेके दुःखको देख दुःखी होगा, दूसरा नहीं अतएव *'सदय'* विशेषण दिया।)

टिप्पणी—२ *'करुनामय रघुबीर गोसाँई'*—इन्द्रियोंके स्वामी हैं, सबकी इन्द्रियोंका हाल जानते हैं; इसीसे शीघ्र पीर पाते हैं। ऊपर कहा कि प्रजाका दुःख देखकर रामजीके हृदयमें दया आयी इससे जान पड़ा कि कारण पाकर करुणा हुई। उसीपर कहा कि रघुनाथजी करुणामय हैं अर्थात् बिना कारण ही कृपालु होते हैं।

कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहु बिधि राम लोग समुझाए॥ ३॥
किये धरम उपदेस घनेरे। लोग प्रेम बस फिरहिं न फेरे॥ ४॥

अर्थ—प्रेमसहित सुन्दर कोमल वचन कहकर श्रीरामजीने लोगोंको बहुत तरहसे समझाया॥ ३॥ धर्मके अनेक उपदेश किये, पर, प्रेमवश होनेसे लोग लौटानेसे भी नहीं लौटते॥ ४॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) *'रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी'* अतएव *'सप्रेम'* उनको समझाया। प्रेमसे समझाते हैं और सुन्दर मीठे कोमल वचन कहकर, जिसमें वियोग करानेवाला यह उपदेश कानोंको कड़ुवा न लगे, उनके हृदयमें उससे दुःख न हो। वचनोंमें धर्मका उपदेश है; अतएव वे *'सुहाए'* हैं। लोग बहुत हैं, अतएव *'राम समुझाए'* पद दिया, ये सबमें रमते हैं, इतने लोगोंको समझाना उनके लिये असम्भव नहीं, यथा—*'यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥'* (२४४। ४) [(ख) धर्म उपदेश अर्थात् कहा कि पिताकी आज्ञा पालन करना धर्म है और तुमको भी उचित है कि जिसमें हमारा धर्म रहे और तुम्हारा भी, वही करो। हमारी आज्ञा मानो, अयोध्यामें रहो, यह तुम्हारा धर्म है। और भी धर्मोपदेश किये जैसे सुमन्त्रजीसे उन्होंने कहा है, *'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥ धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥ मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा। तजे तिहूँ पुर अपजसु छावा॥ संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* (९५। ३—७) पुनः, वनमें गृहस्थी-धर्म तुम लोगोंका निबह नहीं सकता, इत्यादि]।

टिप्पणी—२ *'प्रेम बस फिरहिं न फेरे'* इति। प्रथम बार लोग समझानेसे आज्ञा मानकर लौटानेसे लौट भी जाते थे यह समझकर कि *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'* यथा—*'कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं॥'* परंतु अब धर्मोपदेश करनेपर लौटानेसे भी नहीं लौटते; तात्पर्य यह कि जिस धर्मसे श्रीरामजी मिलें वही धर्म है, जिस धर्मसे उनका वियोग हो, उनका साथ छूटे, वह धर्म धर्म नहीं, यथा—*'सो सुखु करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'* (२९१। १) (नोट—प्रेमी तो प्रेमको ही जानता-मानता है, धर्मको नहीं।)

सील सनेहु छाड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई॥५॥
लोग सोग श्रम बस गए सोई। कछुक देव माया मति मोई॥६॥

शब्दार्थ—**मोई**=मिल गयी—(पु० रा० कु०); मोह गयी; भिगोई—(पाँड़ेजी); मिश्रित हुई वा मोहित हुई—(वन्दन पाठकजी)। मोना=भिगोना, तर करना, यथा—*'तुलसी मुदित मातु सुत गति लखि बिथकी है ग्वालि मैन मन मोए।'* (कृष्ण गी० ११) *'कह्यौ राम तहँ भरत सों काके बालक दोइ। मोर चरित गावत मधुर सुर संयुत रस मोइ॥'* (विश्राम)-(शब्द-सागर)।

अर्थ—शील और स्नेह छोड़ा नहीं जाता। श्रीरघुनाथजी असमञ्जस (दुविधा) में पड़ गये॥५॥ लोग शोक और श्रम (थकावट) के कारण सो गये और कुछ देवताओंकी मायासे भी उनकी बुद्धि मोहित हो गयी॥६॥

टिप्पणी— पुरुषोत्तम राजकुमार—१ *'सील सनेहु'''* इति। श्रीरामचन्द्रजी शील और स्नेहके निबाहने-वाले हैं, शील-स्नेह नहीं तोड़ते; इसीसे उनका निरादर नहीं कर सकते। 'ऊँची-नीची' बातें कहकर नहीं फेर सकते, यथा—*'को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा'* (२४। ४) कैसे इनको छोड़कर चल दें इस सोचमें पड़े हैं; अतः **'रघुराई'** कहा।

टिप्पणी—२ *'लोग सोग श्रम'''* इति। (क) थकावटसे नींद बहुत आती है, यथा—*'श्रमित भूप निद्रा अति आई।'* (१।१७०।२) अयोध्याजीसे तमसातटतक दौड़ते आये हैं; इसीसे बहुत श्रम हुआ और शोक वियोगका है। (ख)—*'कछुक देव माया'* का भाव कि शोक और श्रम बहुत है, देवमाया कुछ ही है। राजभंग और वनवास करानेमें देवताओंने बहुत माया की थी; उसके आगे यह माया कुछ ही है। लोग थके थे ही ऐसे ही बेखबर सोते; और अधिक गहरी निद्रा लानेके लिये अधिक मायाकी जरूरत न हुई। मायासे निद्रा आती है, यथा—**'या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।'** (ग) इस चौपाईका भाव यह है कि अयोध्यावासी बड़े सावधान हैं। शोक, श्रम और देवमाया इन तीनोंके वश हुए तब उन्हें ऐसी नींद आयी।

जबहिं जाम जुग जामिनि बीती। रामु सचिव सन कहेउ सप्रीती॥७॥
खोज मारि रथ हाँकहु ताता। आन उपाय बनिहि नहिं बाता॥८॥

अर्थ—जब दो पहर रात बीत गयी, तब रामचन्द्रजीने प्रेमपूर्वक मन्त्रीसे कहा—॥७॥ हे तात! खोज मारकर (अर्थात् जिसमें रथकी लकीर वा चिह्नका पता न लगे इस प्रकार) रथ हाँको, और किसी उपायसे बात न बनेगी (अर्थात् भागने और सोते छोड़नेसे ही बात बनेगी)॥८॥

टिप्पणी—*'जबहिं जाम जुग'''* इति। ऐसा जान पड़ता है कि अवधवासी आधी राततक जागते रहे थे। इसीसे मन्त्रीसे बात करनेका योग न लगा था, अब मौका मिला। प्रभु सुमन्त्रजीको पिताके समान मानते हैं; अतएव जैसे पितासे प्रेमसहित बोलते हैं वैसे ही बोले—(काम भी निकालना है, नहीं तो जगा दें तो कैसे बने और प्रीतिपूर्वक बोलना तो आपका स्वभाव ही है। पं० शिवलाल पाठकजीका मत है कि उस दिन सुन्दर रामनवमी थी, इसीसे दो पहर रातके बाद जब चाँदनी मन्द पड़ी तब सुमन्त्रजीसे रथ हाँकनेको कहा। और बैजनाथजी लिखते हैं कि दक्षिण दिशाकी यात्राके लिये अर्द्धरात्रि शुभ बेला है)।

दो०—राम लषनु सिय जान चढ़ि संभु चरन सिरु नाइ।
सचिव चलाएउ तुरत रथु इत उत खोज दुराइ॥८५॥

अर्थ—श्रीशङ्करजीके चरणोंमें माथा नवाकर श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी रथपर चढ़े। तब मन्त्रीने तुरत रथको इधर-उधर खोज मारकर चलाया॥८५॥

टिप्पणी—(१) रामजीका रथपर चढ़कर शिवजीको प्रणाम करके चलना न कहा, क्योंकि जब रथ चले तब उनका चलना कहा जा सके। 'तुरत' जिसमें अभी गहरी नींद है, कोई जागने न पावे। सुमन्त्रका रथपर चढ़ना 'चलाएउ' से जना दिया, साथमें न कहा क्योंकि वह हाँकनेवाले हैं, पहलेसे रथपर चढ़े हैं। *'खोज मारि रथ हाँकहु ताता'* इस वचनका यहाँ अर्थ करते हैं—*'इत उत खोज दुराइ।'*

टिप्पणी—२ अवधसे चलते समय *'गणपति गौरि गिरीश'* तीनका मङ्गलाचरण करना कहा और यहाँ केवल शिवजीका कहते हैं। भाव यह है कि जैसे यहाँ रामजी सब अवधवासियोंको छोड़कर चले हैं, वैसे ही मङ्गलाचरणमें भी गणपति और गौरीको छोड़ दिया।

पाँड़ेजी—शिवजीको प्रणाम करनेका भाव—१—माधुर्यमें शिवजीके उपासक हैं, यथा—*'सेवक स्वामि सखा सिय पीके।'* २—रात्रिमें चलना वर्जित है, रुद्रगण-प्रेत, पिशाचादि उस समय फिरा करते हैं, अतः उनके विघ्नकी शान्तिके लिये। ३—शं=कल्याण+भु=उत्पन्न करनेवाले। कल्याणके करनेवाले हैं, इनका स्मरण विपत्तिका नाशक है। ४—मृत्यु इनके अधीन है, ये संहारकर्ता हैं, अवधवासी प्राण देनेपर संनद्ध हैं, उनके प्राणोंकी रक्षा करें, इत्यादि।

वि० त्रि०—पहिले रथपर चढ़े, तब शम्भु-चरणोंमें सिर नवाया। इसके बाद रथ चला अर्थात् यात्रा आरम्भके पहिले फिर महादेवजीको प्रणाम किया। पहिले पुत्र-कलत्रके साथ प्रणाम करना कह चुके हैं। यहाँ भी वही समझना चाहिये। शम्भुमूर्तिमें गणपति-गौरीका अन्तर्भाव है। शिवजीकी गोदमें गिरिजा हैं और उनके गोदमें गजानन हैं। तीनों कल्याणदाता हैं। शम्भु नाममें तीनोंका अन्तर्भाव है, **'शम्=कल्याणं भावयति उत्पादयतीति शम्भुः।'** कल्याणका उत्पादन करते हैं, इसलिये शम्भु कहलाते हैं।

नोट—*'इत उत खोज दुराइ'* इति। इससे *'खोज मारि रथ हाँकहु'* का अर्थ स्पष्ट कर दिया। काष्ठजिह्वा स्वामीका मत है कि रथके पीछे झाँखड़ (या झरबेरीके काँटे—सू० मिश्र) बाँधकर रथ चलानेसे पहियेका निशान मिटता जाता है, लोग यह समझेंगे कि कोई झाँखड़ घसीटकर ले गया है। आकाशमार्गसे चलना कहनेसे ठीक नहीं होता; क्योंकि उससे ऐश्वर्य नहीं छिपेगा। (रा० प्र०)

वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भुलावा देनेके लिये श्रीरामजीने सुमन्त्रजीसे कहा कि पहले रथ उत्तरकी ओर ले चलो फिर बड़ी सावधानीसे लौटाओ जिसमें पता न चले कि हम किधर गये। —**'उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे॥' 'मुहूर्त्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः। यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः॥'** (४६। ३०-३१) आगे—*'रथ कर खोज कतहुँ नहिं पावहिं'* देखिये।

वि० त्रि०—सुमन्त्र मन्त्री है, उसने देखा कि प्रजाके साथ चलनेमें किसीका कल्याण नहीं है। अतः उसने बिना कुछ कहे-सुने, रघुनाथजीकी आज्ञाका पालन किया। इस भाँति रथ चलाया कि उसकी लीक देखनेसे पता न चले कि रथ किधर गया। जिधर देखते हैं उधरसे ही मालूम होता है कि रथ गया है। लीकोंकी ऐसी भूल-भूलैयाँ बन गयी है कि बुद्धि काम नहीं करती। यह रथ चलानेका पाण्डित्य है।

जागे सकल लोग भये भोरू। गे रघुनाथ भएउ अति सोरू॥१॥
रथ कर खोज कतहुँ नहिं पावहिं। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं॥२॥
मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू। भएउ बिकल बड़ बनिक समाजू॥३॥

अर्थ—सबेरा होनेपर सब लोग जगे। रघुनाथजी चले गये इसका बड़ा शोर मच गया॥१॥ रथका

निशान कहीं नहीं पाते, 'हा राम! हा राम!!' कहकर चारों ओर दौड़ते हैं॥ २॥ मानो समुद्रमें जहाज डूब गया, इससे व्यापारी लोग बड़े व्याकुल हो गये हैं॥ ३॥

नोट—*'अति सोरू'* इति। वाल्मीकिजी सर्ग ४७ में लिखते हैं कि प्रातःकाल उठकर राघवको न देख वे शोकके मारे कर्तव्य-विमूढ़ और अचेत हो गये। होश आनेपर रोते हुए चारों ओर दौड़े पर कोई भी चिह्न न देख उनके मुख सूख गये, उन बुद्धिमानोंका ज्ञान जाता रहा, वे परस्पर आर्त वचन बोलने लगे—उस निद्राको धिक्कार है जिससे हम असावधान होकर महाबाहु रामजीको खो बैठे, हा! हम भक्तोंको छोड़कर वे कैसे चले गये! वे पुत्रकी तरह हमारा पालन करते थे, वे रघुकुलश्रेष्ठ हमें छोड़कर वन क्यों चले गये? उनके बिना किस सुखके लिये जियें? हम मर जायँगे वा हिमालयपर मरनेके लिये चले जायँगे, या यहीं चिता बनाकर जल मरेंगे। हमें नगरी देखकर दुःखी होगी। हा! हम क्या कहेंगे कि हम वन भेज आये! इस प्रकारसे हाथ ऊपर उठाकर वे अनेक तरहका विलाप करने लगे जैसे बछड़ेके वियोगसे गाय बँवाये और दुःखित हो। बड़े प्रयत्नसे पता लगाकर मार्गपर चले, जब आगे पता न चला तब वे हताश हो घबड़ाकर चीख उठे—अरे, यह क्या! रथका मार्ग क्या हो गया? हा, अब क्या करें? हमारे तो भाग्य ही फूट गये—**'किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति॥'** (१४) **'धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहतचेतसः। नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम्॥'** (४) **'कथं रामो महाबाहुः स तथावितथक्रियः। भक्तं जनमभित्यज्य प्रवासं तापसो गतः॥'** (५) **'यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान्। कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः॥'** (६) **'इहैव निधनं याम महाप्रस्थानमेव वा। रामेण रहितानां नो किमर्थं जीवितं हितम्॥'** (७) '''''**सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान् राघवं विना। भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोऽधिका**' (१०) '''''**इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः। विलपन्ति स्म दुःखार्त्ता हृतवत्सा इवाग्रगाः॥**' (१२)

टिप्पणी—१ (क) राम-राम कहकर चारों ओर दौड़ते हैं, इसीसे बड़ा शोर हुआ। *'चहुँ दिसि धावहिं'* इस पदसे *'इत उत खोज दुराइ'* का अर्थ स्पष्ट करते हैं कि रथकी लीक चारों दिशाओंमें लगायी हैं। (ख) ☞राम-राम कहते चारों ओर दौड़ते हैं पर रामजीको नहीं पाते। जब भरतजीके साथ जायँगे तब पायँगे। इससे जनाते हैं कि चारों वर्णाश्रमों, चारों वेदोंमें ढूँढ़े भगवान् नहीं मिलते और संतद्वारा मिलते हैं।

टिप्पणी—२ *'मनहु बारिनिधि बूड़ जहाजू'* इति। श्रीरामजीको अयोध्यासे लङ्कातक जाना है। यह सब भूमि मानो समुद्र है। अवधवासियोंका साथ रहनेका मनोरथ—*'जहाँ राम तहँ सबुइ समाजू'* और *'चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई'*—यही दृढ़ जहाज है। यह जहाज अयोध्याजीसे चला और तमसा किनारे आकर डूब गया; अर्थात् तमसा-तीरतक अवधवासियोंका मनोरथ पूरा हुआ, आगे न चल सका; क्योंकि श्रीरामजी छोड़कर चले गये। अयोध्यावासी वणिक् हैं, वे विकल हो गये; क्योंकि जहाज डूब जानेसे माल मारा गया—श्रीरामलक्ष्मण-सीताजीका चला जाना यही मालकी हानि है। रामरूपी माल हाथसे जाता रहा, अतएव जैसे वणिक् मालका नाम ले-लेकर रोता है वैसे ही ये हा राम! हा राम! कह-कहकर रोते-चिल्लाते और व्याकुल हो रहे हैं।

वि० त्रि०—श्रीरामजीके वियोगमें अवधवासियोंका धैर्य छूट गया और वे ऐसे विकल हुए, जैसे डूबते हुए जहाजका वणिक्-समाज विकल हो जाता है। किसीका धैर्य नहीं रह जाता। यहाँ धैर्यका छूटना ही डूबना है, यथा—*'नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥ करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥ धीरज धरिअ त पाइअ पारू।'* (१५४। ५—७)।

एकहि एक देहिं उपदेसू। तजे राम हम जानि कलेसू॥ ४॥
निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवनु रघुबीर बिहीना॥ ५॥

शब्दार्थ—**आपु**=अपनेको, अपनी। **धिग** (धिक्)=धिक्कार योग्य।

अर्थ—एक-दूसरेको उपदेश देते हैं कि श्रीरामजीने हमारा क्लेश विचारकर हमें छोड़ दिया है। (अर्थात् यह समझकर कि हम सबको बड़ा कष्ट होगा, हमारे ऊपर तरस खाकर कुछ निरादरसे नहीं किंतु दयाके कारण हमको छोड़ा)॥ ४॥ अपनेको धिकारते हैं, मछलीकी ईर्ष्यापूर्वक बड़ाई करते हैं और कहते हैं कि रघुवीरके बिना हमारे जीवनको धिक्कार है॥ ५॥

टिप्पणी—१*'एकहि एक देहिं उपदेसू'* अर्थात् जबतक श्रीरामजी रहे तबतक वे सबको समझाते रहे, अब कौन ढारस दे? अतएव आपसमें एक-दूसरेको समझाते हैं?

नोट—१ *'जानि कलेसू',* यथा—'**नाहं गच्छामि नगरमेते वै क्लेशभागिनः।**' (अ० रा० २। ५। ५४) अर्थात् मैं तो नगरको लौटकर जाऊँगा नहीं और ये व्यर्थ क्लेश उठायेंगे। वाल्मीकीयमें रामजीके ये वचन हैं—'**पौरा ह्यात्मकृताद्दुःखाद्विप्रमोच्या नृपात्मजैः। न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः॥**' (२। ४६। २३) अर्थात् राजपुत्रोंको चाहिये कि वे पुरवासियोंके उन दुःखोंको मिटावें जो उन्होंने अपने हाथों अपने ऊपर बुला लिये हैं। अपना दुःख पुरवासियोंको न भोगने दें। यह कहकर उन्होंने सुमन्त्रजीसे खोज मारकर रथ ले चलनेको कहा है।

नोट—२*'मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह। तुलसी एकइ मीन को है साँचिलो सनेह॥'* (दो० ३१८) *'मीन काटि जल धोइए खाए अधिक पियास। तुलसी प्रीति सराहिए मुएहु मीत की आस॥' 'सुलभ प्रीति प्रीतम सबै कहत करत सब कोइ। तुलसी मीन पुनीत तें त्रिभुवन बड़ो न कोइ॥'* (दोहा ३२०) यह मछलीकी प्रशंसा है।

'जग जो बनायो तो बनायो ना बिगारो कछु जगको बनाइ नहिं जीव बिस्तारतो। जीवरचनामें रचतो न नर नारी फेरि, कीन्हें नरनारि तो न प्रेमको प्रचारतो॥ प्रेमको प्रचारो तो प्रचारो न संयोग देतो देयके संयोग सो बियोग न बिचारतो। अवधनिवासी कहें रामके बियोग हमें माँगे देत मौत बिधि होत जो उदार तो॥'

टिप्पणी—२ *'धिग जीवनु रघुबीर बिहीना'* इति। जब अवधसे वनको रामजी चलने लगे तब *'बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जिमि जलचरगन सूखत पानी॥'* अर्थात् तब उनकी व्याकुलताका दृष्टान्त यह दिया था कि जैसे जलचर तालाब आदिका जल सूखते हुए व्याकुल हों। श्रीरामजी वनको चले पर अभी उनका साथ था; रामरूपी जल अभी बना हुआ था; अब उनका साथ छूट गया, जल बिलकुल न रह गया तो तड़पकर मर जाना चाहिये था जैसे मछली मर जाती है पर हम जीवित हैं, अतएव हमारा जीवन धिक्कार योग्य है। (नोट—स्मरण रहे कि पूर्व जलचरकी उपमा दी थी, सब जलचर पानी सूखनेपर मर नहीं जाते मछली ही मर जाती है।)

जौं पै प्रिय बियोगु बिधि कीन्हा। तौ कस मरनु न मागें दीन्हा॥ ६॥
एहि बिधि करत प्रलाप कलापा। आए अवध भरे परितापा॥ ७॥
बिषम बियोगु न जाइ बखाना। अवधि आस सब राखहिं प्राना॥ ८॥

अर्थ—ब्रह्माने जो निश्चय ही प्यारेका वियोग रचा था तो माँगी मौत भी क्यों न दी॥ ६॥ इस प्रकार प्रलाप-समूह करते हुए अत्यन्त दुःख और दाहसे भरे वे अयोध्याजी आये॥ ७॥ कठिन दुःख वर्णन नहीं किया जा सकता, सब (१४ वर्षकी) अवधिकी आशासे (कि इसके बीतनेपर फिर मिलेंगे) प्राण रख रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) *'कस मरनु न मागें दीन्हा'* से जनाया कि वे मृत्यु चाहते हैं पर मिलती नहीं, माँगी मृत्यु मिलती तो मीनकी तरह मर जाते; क्योंकि मीनकी प्रशंसा कर रहे हैं। (ख) *'करत प्रलाप कलापा''''''भरे परितापा'* अर्थात् मुखसे प्रलाप करते हैं और अन्तःकरणमें परिताप है, भीतर-बाहर दोनोंमें दुःख व्याप्त हो गया है। वियोग-दुःखमें ये लोग प्रलाप करते हैं जैसे लक्ष्मणजीके वियोग-दुःखमें रामजीने 'प्रलाप' किया है—*'प्रभु प्रलाप सुनि कान।'* वैसा ही यहाँ समझ लेना चाहिये।

(ग) *'भरे परितापा'*—विरहाग्निके भयसे पुरवासी अवध छोड़ भगे थे, यथा—*'सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥'* (८४। ४) रामजीके साथ गये, वहाँ भी वियोग हुआ। अतएव वहाँसे विरहाग्निके परितापसे भरे हुए आये।

टिप्पणी—२ *'बिषम बियोगु'* अर्थात् ऐसे दुःखमें वे मर जाते पर आशासे प्राण रखते हैं। विषम वियोग विषम ज्वर है—*'जरहिं बिषम ज्वर लेहिं उसासा। कवनि राम बिनु जीवन आसा॥'* (५१। ५) राम-बिना जीवनकी आशा नहीं है; उनके मिलनेकी आशासे प्राण रखे हैं।

दो०—राम दरस हित नेम ब्रत लगे करन नर नारि।
मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि॥८६॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष राम-दर्शनके लिये नियम और व्रत करने लगे, मानो चकवा, चकवी और कमल सूर्यके बिना दीन दुःखी हैं॥८६॥

'नेम ब्रत'—बाह्य-वस्तु-साध्य नित्य-कर्मोंको 'नियम' कहते हैं, जैसे शौच, संतोष, तप, वेदपठन और ईश्वरका ध्यान। व्रत भी प्रायः नियमके लक्षणमें अन्तर्भूत है, परंतु विशेषकर काम्य और स्वयं गृहीतकर्मको व्रत कहते हैं; जैसे उपवास, नक्त-भोजन। यद्यपि नियम और व्रत इनके अर्थमें भेद दर्शाया है तथापि ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। प्रवाह-पतित होनेसे एकके साथ दूसरेका उच्चारण होता है, जैसे 'यज्ञयागादिक।' (वि० टी०)

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) सूचीकटाहन्यायानुसार पहले पुरवासियोंका विरह वर्णन किया, आगे श्रीरामजीका वृत्तान्त वर्णन करेंगे। (ख) श्रीरामदर्शनके लिये नेमव्रत करने लगे। इससे विदित हुआ कि साधनसे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, यथा—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२०९। ५) क्या नेमव्रत किये, इसका ब्योरा आगे स्पष्ट करके लिखते हैं—*'पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग। करत रामहित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग॥'* (१८८) *(ग) 'कोक .... दीन बिहीन तमारि'* इति। यहाँ १४ वर्षका वियोग रात्रि है, उसके बाद रामजीका आगमन सूर्योदय है जिससे शोक-तम निवृत्त होगा!

कोक-कोकीकी उपमा देकर सूचित किया कि पुरवासियोंका पति-पत्नीसे (पतिको पत्नीसे और पत्नीको पतिसे) विछोह है, और कमलके दृष्टान्तसे सूचित किया कि सब शोभासे रहित हैं। जैसे बिना सूर्यके अन्धकार वैसे ही अयोध्यामें बिना रामजीके (शोकरूपी) तम है, यथा—*'लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥'*

मानस-मयङ्क—कोक-कोकीकी उत्प्रेक्षासे सूचित करते हैं कि सब लोग वानप्रस्थ-आश्रमके नियमको पालन करने लगे, यद्यपि स्त्री साथ है तो भी भूलकर भोग नहीं रुचता। नेम-व्रतसे सूचित होता है कि शरीररक्षार्थ कुछ भोजनका अवलम्बन किये हैं।

मु० रोशनलाल—'कमलका दृष्टान्त देकर शोभाका नष्ट होना जनाया; क्योंकि कुम्हलाये हुए कमलमें स्याही आ जाती है और लाली नष्ट हो जाती है और कोक-कोकीके दृष्टान्तसे शृङ्गार-वासनाका जाता रहना, एवं करुणाकी वृद्धि सूचित की।'

श्रीनंगे परमहंसजी—श्रीअवधके स्त्री और पुरुषोंने इस नियमका व्रत किया कि रात्रिरूप चौदह वर्षकी अवधितक रघुनाथजीका दर्शन किये बिना हमारा आपसमें संयोग नहीं होगा। वे चकवा-चकवीकी तरह व्याकुल हो गये और उनका कमलरूप मन सम्पुटित हो गया।

वि० त्रि०—जैसे सूर्य बिना कोक-कोकी और कमल दीन हो जाते हैं। कोक-कोकी ग्राम्य-सुखका त्याग करते हैं, और कमल विकसित नहीं होता, अन्तर्मुख हो जाता है। उसी भाँति अवधवासियोंमेंसे कुछने तो ग्राम्य-सुख न करनेका नियम कर लिया और कुछने अन्तर्मुख रहनेका व्रत धारण कर लिया।

चार प्रकारके रामभक्तोंकी उपमा देते हुए लक्ष्मणजी कहते हैं कि *'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥ ऐसेइ प्रभु सब भगत तुम्हारे। ह्वै हैं टूटे धनुष सुखारे॥'* इससे स्पष्ट है कि ज्ञानी भक्तकी उपमा कमलसे है, जिज्ञासुकी कोकसे, अर्थार्थीकी भ्रमरसे और आर्त्तकी *'नाना खग'* से। सो अयोध्यामें दो ही प्रकारके भक्त हैं ज्ञानी और जिज्ञासु, जिनकी उपमा यहाँ कमल और कोक-कोकीसे दी है, अर्थार्थी और आर्त्त भक्त अयोध्यामें हैं नहीं, क्योंकि *'रिधि सिधि संपति नदी सोहाई। उमगि अवध अंबुधि कहँ आई॥ मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥'* (२।१।३४) ये रत्नोंकी भाँति *'रिधि सिधि संपति के'* रत्नाकरके गर्भमें डूबाडूब हैं, ये अर्थार्थी और आर्त्त क्यों होंगे? अत: जिज्ञासुओंने ब्रह्मचर्यका नियम धारण कर लिया और ज्ञानीने अन्तर्मुख रहनेका व्रत धारण कर लिया।

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥ १॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरषु बिसेषी॥ २॥
लषन सचिव सिय किए प्रनामा। सबहि सहित सुखु पायउ रामा॥ ३॥

अर्थ—श्रीसीताजी और मन्त्रीसहित दोनों भाई शृङ्गवेरपुर जा पहुँचे॥ १॥ सुरसरिको देखकर श्रीरामचन्द्रजी रथसे उतरे और बहुत प्रसन्न होकर दण्डवत् की॥ २॥ लक्ष्मणजी, मन्त्री और सीताजीने प्रणाम किया, सबोंके सहित श्रीरामजीने सुख पाया॥ ३॥

नोट—इस प्रसङ्गका सम्बन्ध पूर्व-प्रसङ्ग *'राम लषन सिय जान चढ़ि......इत उत खोज दुराइ।'* (८५) से है। बीचमें पुरवासियोंके विरहका वर्णन हुआ।

शृङ्गवेरपुर—लाला सीतारामजी लिखते हैं कि तमसासे शृङ्गवेरपुर ४० कोस है। सुलतानपुरसे पूर्व आध मीलपर गोमती और प्रतापगढ़-किलाके नीचे, सई पार करके शृङ्गवेरपुर पहुँचे। रायसाहब पं० परमेश्वरीदत्त मिश्रजी कहते थे कि भरतकुण्डसे रेलके रास्ते प्रतापगढ़ ५२ मील है, वहाँसे ४० मील वह मुकाम है जहाँ दूसरी रात निवास हुआ है। जेठवारा थानातक पक्की सड़क है, फिर कच्ची। शृङ्गवेरपुर जिला इलाहाबादमें है। आजकल वह सिंग्रौर घाट कहलाता है। यहाँ 'रामचौरा' स्थान है, जहाँ श्रीरामजी दूसरी रात रहे थे। रामचौरासे रामचौरा स्टेशन डेढ़ मीलपर है। यहाँपर एक घाट रामसन्ध्या-घाट है जहाँपर पार उतारनेके लिये केवटसे बातचीत हुई थी।

श्रीपं० रामवल्लभाशरणजी (अयोध्याजी) का मत है—कि शृङ्गवेरपुर=पुर जिसके चारों ओर सींगोंकी बारी लगी हुई है। इस नामसे सूचित होता है कि निषाद कैसे हिंसक थे, अगणित मृगादि जीवोंका वधकर उनकी सींगोंसे गाँवकी सरहद बनायी थी। इसीसे शृङ्गवेरपुर नाम पड़ा।

लाला सीतारामजी लिखते हैं कि इसे अब सिंगरौर कहते हैं। प्रयागसे २२ मील उत्तर-पश्चिम गङ्गाके उत्तर तटपर एक ऊँचे टेकरेपर बसा है और बहुत दिनोंतक परगनेका प्रधान नगर था। शृङ्गवेर संस्कृतमें अदरकको कहते हैं। इससे विद्वान् लोग अनुमान करते हैं कि यहाँ पहले अदरककी खेती होती थी। परंतु तीर्थ-स्थानोंकी महिमा बढ़ानेके लिये केवल श्रीरघुनाथजीका पदार्पण पर्याप्त न समझकर शृङ्गवेरको शृङ्गीवीर कर दिया गया और रघुनाथजीकी बड़ी बहिन शान्ता और उनके बहनोई ऋष्यशृङ्गका आश्रम यहाँ बन गया। मुख्य स्थान जिससे हमको प्रयोजन है रामचौरा है। यह गाँव सिंगरौरहीका एक भाग है। इसमें गङ्गातटपर दो पेड़ शीशमके हैं जिनके नीचे चौतरे बने हैं। यह उसी वृक्षकी संतान कहे जाते हैं जिसके नीचे श्रीरघुनाथजीने विश्राम किया था।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं—दोनों भाई, मन्त्री और सीताजीके सहित शृङ्गवेरपुर जा पहुँचे। शृङ्गवेरपुरका नाम आजकल सिंगरौर है, यथा—*'सो जामिनि सिंगरौर गँवाई।'* सुनते हैं कि यहाँ पहिले शृङ्गी ऋषिका आश्रम था, इसलिये इसका नाम शृङ्गवेरपुर पड़ा, और नामका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी ऐसा ही है। शृङ्गवेरका अर्थ ही है शृङ्गी। शृङ्ग है वेर-(देह-) में जिसके, उसे शृङ्गी कहते हैं। उन्हींका पुर

शृङ्गवेरपुर कहलाता है। यही अर्थ जनश्रुतिके अनुकूल है, नहीं तो जहाँ अदरककी खेती हो या व्यवसाय होता हो, उसे भी शृङ्गवेरपुर कह सकते हैं। शृङ्गवेरका अर्थ ही अदरक है।

☞ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि देवसरिकी भँवरवाली लहरोंको देखकर श्रीरामजीने सुमन्त्रजीसे कहा कि यहाँ तटपर बहुत बड़ा इंगुदीका वृक्ष है, हमलोग यहीं ठहरें, इस नदीके जलका देवता, दानव, गन्धर्व आदि सभी आदर करते हैं। यह कहकर वहीं सब कोई उतर पड़े।

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकु०—१ तीर्थ जहाँसे देख पड़े वहींसे सवारीसे उतरकर प्रणाम करना चाहिये, यथा—*'गिरबरु दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनामु रथ त्यागेउ तबहीं॥'* (२७५। २) विशेष हर्ष हुआ अर्थात् रोमाञ्च, सजल नयन, गद्गद कण्ठ इत्यादि हुए। बड़ेको हर्षसहित प्रणाम करना चाहिये। पुनः, दूसरा भाव कि गङ्गा साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं अतएव उनके दर्शनसे ब्रह्मसुख प्राप्त हुआ जिससे अधिक कोई सुख नहीं। पुनः, हर्ष इससे कि यह हमारे कुलकी कीर्त्तिरूपिणी हैं।

टिप्पणी—२ रामजीने 'दण्डवत्' और सबने 'प्रणाम' किया। भाव कि श्रीरामजीकी भक्ति द्विज, देवता और तीर्थमें बहुत है और श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी और मन्त्रीकी भक्ति रामजीमें बहुत है, अन्यमें सामान्य है।

टिप्पणी—३ *'सबहि सहित सुखु पायउ रामा'*—भाव कि प्रथम श्रीरामजीको हर्ष हुआ और अब सबको सुख हुआ। यदि *'सबहि सहित'* न कहते तो समझा जाता कि केवल श्रीरामजीको सुख हुआ। गङ्गा-दर्शनसे ब्रह्मप्राप्ति है सो उनकी प्राप्तिमें रामजी मुख्य हैं; तात्पर्य यह कि राम-दर्शनके आगे ब्रह्मानन्द सामान्य है, यथा—*'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा॥'* इसीसे ब्रह्मसुखकी प्राप्तिमें इन तीनोंको सामान्य कहा।

नोट—इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**रामः सीतासमन्वितः॥ गङ्गातीरं समागच्छच्छृङ्गवेराविदूरतः। गङ्गां दृष्ट्वा नमस्कृत्य स्नात्वा सानन्दमानसः॥**' (अ० रा० २। ५। ५९-६०) अर्थात् श्रीसीतासहित श्रीरामजी शृङ्गवेरपुरके पास गङ्गातटपर पहुँचे। गङ्गाजीको देखकर प्रसन्न-चित्तसे नमस्कार करके उन्होंने स्नान किया।

गंग सकल मुद मंगल मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला॥ ४॥
कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। रामु बिलोकहिं गंग तरंगा॥ ५॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुधनदी महिमा अधिकाई॥ ६॥

अर्थ—गङ्गा सारे आनन्दमङ्गलोंकी जड़ है, सारे सुखोंकी करने और सारे दुःखोंकी हरनेवाली है॥ ४॥ अनेक कथाओंके प्रसङ्ग कहकर श्रीरामजी गङ्गाकी लहरें देख रहे हैं॥ ५॥ मन्त्रीको, भाईको और प्रियपत्नीको देवनदीकी बड़ी महिमा सुनायी॥ ६॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—गङ्गाजीको *'सकल मुद मंगल मूल'* कहकर निराकार ब्रह्म अथवा ब्रह्मद्रवा कहा। क्योंकि मङ्गलमूल तो ब्रह्म राम ही हैं, यथा—*'मंगलमूल राम सुत जासू। जो कछु कहिय थोर सब तासू॥'* भगवान् व्यासदेवने भी '**ब्रह्मद्रवेति विख्याते पापं मे हर जाह्नवी**' ऐसा कहा है। इसकी एक कथा भी गर्गसंहितामें पायी जाती है कि किस प्रकार स्वयं कृष्णमूर्ति द्रवीभूत होकर गङ्गाजलरूपमें परिणत हो गयी। *'सब सुख करनि'* से गुणाधान कहा और *'हरनि सब सूला'* से दोषापकर्षण कहा।

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ *'सकल मुद मंगल मूला'* अर्थात् ब्रह्मानन्द, विषयानन्द सब प्रकारके आनन्दोंकी मूल हैं। इससे वे सब आनन्द प्राप्त होते हैं। *'सब सूला'*=त्रयशूल। शूल तीन माने गये हैं, यथा—'**त्रयः शूलनिर्मूलनं शूलपाणिम्।**' (७। १०८) वे ये हैं—जन्म, जरा, मरण।

टिप्पणी—२ *'कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा'* इति। (क)—'कोटिक' संख्यावाची नहीं है किंतु अनन्तवाची है, यथा—*'कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥'* (२०। ३) अर्थात्

बहुत-सी कथाएँ कहीं। प्रत्येक कथाकी समाप्तिपर गङ्गाजीकी तरंगें देखते हैं कि ऐसी ये गङ्गा हैं।* (ख) यहाँ मन-वचन-कर्म तीनोंसे गङ्गामें भक्ति दिखायी है—*'सुख पाया'* यह मनकी भक्ति है क्योंकि सुख पाना मनका धर्म है। *'कहि कहि कोटिक कथा'* यह वचनकी और *'कीन्ह दण्डवत'* यह कर्म या तनकी भक्ति है। (ग)—बहुत-सी कथाएँ क्या कहीं, यह आगे कहते हैं कि गङ्गाजीकी महिमा-(बड़ाई-) की कथा कहते हैं, उनका माहात्म्य कहते हैं। ☞तीर्थ-स्नानकी विधि यह है कि पहले माहात्म्य सुने, तब स्नान करे। कोई और वहाँ न था जो सुनाता, अतएव ग्रामजीने ही सुनाया। माहात्म्य कहना यह भी एक भक्ति है।

टिप्पणी—३ *'बिबुधनदी'* पदका भाव कि ब्रह्मा-शिवादि देवताओंको भी पवित्र करती हैं, यथा—**'भागीरथीभवविरञ्चिपुनीतनित्यम्।'** यहाँ महिमाकी अधिकाई कहते हैं, एक महिमा यह भी है।

नोट—विनयपत्रिकामें गङ्गाजीकी महिमापर कविके ये पद्य हैं—*'जय जय भगीरथनंदिनि, मुनिचय चकोरचंदिनि नरनाग बिबुध बंदिनि जय जह्नुबालिका। विष्णुपद सरोजजासि ईससीसपर बिभासि त्रिपथगासि पुण्यरासि पापछालिका॥ बिमल बिपुल बहसि बारि सीतल त्रयतापहारि भँवर बर बिभंगतरतंगमालिका। पुरजन पूजोपहार सोभित ससि धवल धार भंजनि भवभार भक्तिकल्पथालिका। निज-तट-बासी बिहंग जलथलचर पसु पतंग कीट जटिल तापस सब सरिस पालिका। तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुबंसबीर बिचरत मति देहि मोह-महिष-कालिका॥'* (वि० १७)

२—'जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी।
विष्णु पदकंज मकरंद इव अंबुवर बहसि दुख दहसि अघ बृंद विद्राविनी॥
मिलित जलपात्र अज, युक्त हरिचरणरज, विरजवर वारि त्रिपुरारि शिरधामिनी।
जन्हु कन्या धन्य पुण्यकृत सगर सुत भूधर-द्रोणि-विद्दरणि बहुनामिनी॥
यक्ष गंधर्व मुनि किन्नरोरग दनुज मनुज मज्जहिं सुकृतपुंज युत-कामिनी।
स्वर्ग सोपान विज्ञान ज्ञानप्रदे मोह-मद-मदन-पाथोज हिम-जामिनी॥
हरित गंभीर बानीर दुहुँ तीरवर, मध्य धारा विशद, विश्व अभिरामिनी।
नील पर्यंककृत शयन सर्पेश जनु सहस शीशावली स्त्रोत सुर स्वामिनी॥
अमित महिमा अमित रूप भूपावली मुकुटमणि बंदिते लोकत्रय गामिनी।
देहि रघुबीरपद प्रीति निर्भर मातु दास तुलसी त्रास-हरणि भवभामिनी॥ (वि० १८) इत्यादि

मज्जनु कीन्ह पंथ श्रम गएऊ। सुचि जलु पियत मुदित मन भएऊ॥७॥
सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू॥८॥

शब्दार्थ—सुचि=**'शुचिः शुद्धे पुनः शुक्लः शुभ्रः शुचिःश्वेत'** इति (अमरकोश) अर्थात् शुद्ध, स्वच्छ, साफ, पवित्र—(पाठकजी)। **'श्रम भारू'**=श्रमका भार बोझा अर्थात् जन्म-मरणादि, भारी श्रम।

अर्थ—स्नान किया, उससे रास्तेकी थकावट दूर हुई। पवित्र जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया॥७॥ (वक्ता कहते हैं कि) जिसका स्मरण करते ही भारी श्रम (अनेकों जन्मोंका जन्म-मरण आवागमन-श्रम) मिट जाता है उसको श्रम! यह लोकका व्यवहार है (लोकाचार है)॥८॥

टिप्पणी पुरुषोत्तम रामकुमार—१ यहाँ 'दरस, परस, मज्जन और पान' चारों कहे गये—*'राम बिलोकहिं गंग-तरंगा'* यह दर्शन; *'मजनु कीन्ह पंथ श्रम गएऊ'* यह मज्जन और स्पर्श और *'सुचि जल पिअत मुदित'* यह पान हुआ। पुनः,

टिप्पणी—२ माहात्म्य कहकर स्नान किया, ऐसा करनेसे धर्मशास्त्रकी मर्यादाकी रक्षा की। पुनः, वैद्यक शास्त्रकी मर्यादा भी रखी; क्योंकि इसमें लिखा है कि परिश्रमकी गर्मी मिटाकर स्नान करे। स्नानमें दस गुण कहे गये हैं, उनमेंसे श्रम दूर होना और मन मुदित होना ये दो गुण यहाँ कहे। [मिलान कीजिये—*'गै श्रम सकल सुखी नृप भएऊ।'* (१। १५९। १) *'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा।'* (३। ४१) *'करि तड़ाग*

* १—अनेक पापियोंके तारनेकी कथाएँ कहीं—(रा० प्र०)। २—मयंककार लिखते हैं कि दो ब्राह्मण, गुद्दर, यती, अकेली नारि, गणिकापति तस्कर, कपिदल और ब्रह्मदग्धादिककी कथाएँ कहीं।

मज्जन जल पाना। बट तर गएउ हृदय हरषाना॥' (७। ६२) *'मज्जन करिअ समर श्रम छीजै।'* (६। ११५)

नोट—*'तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू'* इति। यहाँ यह शंका खड़ी की जाती है कि प्राकृत मनुष्यों और जीवोंको चलनेसे परिश्रम होता है और स्नान करनेसे उनकी थकावट दूर होती है, पर ये तो परात्पर परब्रह्म हैं, इनको श्रम हुआ! यह कैसा? इनके स्मरणमात्रसे जीव आवागमनरूपी भव-श्रमसे मुक्त हो जाते हैं, यथा—**'यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्। विमुच्यते''''''॥'** तो उनको श्रम कैसे सम्भव है? 'श्रीसीतारामजीको श्रम हुआ और वह श्रम गङ्गास्नानसे दूर हुआ' ऐसा पढ़ या सुनकर बहुत ही सम्भव है कि पाठक या श्रोता और आजकल कलियुगकी संतान विशेष, इनको मनुष्य समझ लें; अतएव पूज्य वक्ता इस माधुर्य-विशेषको कहकर तुरत उनके साथ ही उनका ऐश्वर्य वर्णन करते हुए उसका समाधान करते हैं कि वे नर-नाट्य कर रहे हैं इसीलिये उनमें सब लोक-व्यवहारोंको कहना पड़ता है, नहीं तो उनको श्रम कहना ही न चाहिये। वास्तवमें उनको न तो श्रम ही हुआ न वह मिटा। लीलामात्रके लिये ऐसा दिखाया और कहा गया।

☞स्मरण रहे कि यह पूज्य कविकी शैली है कि जब कहीं अत्यन्त माधुर्य लीलाका वर्णन आ जाता है, जिससे पाठक या श्रोताको श्रीरामजीके ब्रह्म होनेमें सन्देह होनेका अंदेशा है तब वे उनका कुछ ऐश्वर्य कहकर उस सन्देहकी निवृत्ति भी साथ-ही-साथ कर देते हैं। वैसे ही यहाँ भी दोहेमें कहते हैं—*'सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।'''* पूर्व भी कई स्थलोंपर यह बात बतायी जा चुकी है।

☞ इसी तरह जहाँ-जहाँ श्रीरामजीको श्रमादि होनेका उल्लेख हो वहाँ-वहाँ इस चौपाईका अध्याहार कर लेना चाहिये।

दो०—सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुलकेतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥८७॥

शब्दार्थ—**कंद**=(कं=सुख=जल+द=दाता) सुख देनेवाले; मेघ-समूह, जड़। *अनुहरत*=सदृश,(जैसा मनुष्य करते हैं) वैसा ही; तरह। **संसृति**=संसार, भव, जन्म-मरण।

अर्थ—शुद्ध (सत्त्व, रज, तम तीनों मायिक गुणोंसे परे) सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, सुखरूपी जलके देनेवाले, सूर्यकुलकी ध्वजा (अर्थात् उसमें श्रेष्ठ) श्रीरामजी मनुष्योंकी तरह चरित करते हैं जो (चरित) संसार (भव) सागरसे पार होनेके लिये पुलके समान है। अर्थात् इन चरित्रोंको गा-सुनकर जीव भवसागरसे पार हो जाते हैं॥ ८७॥

पाँड़ेजी—मयके तीन अर्थ हैं—प्रचुर, विकार और तदात्मक। प्रचुर जैसे पृथ्वी जलमय हो गयी। विकार जैसे पृथ्वी अन्नमय है, अन्नकार्य और पृथ्वी कारण है। तदात्मक जैसे कुण्डल स्वर्णमय और घट मृत्तिकामय। तीनों अर्थ यहाँ गृहीत हैं—शुद्ध सच्चिदानन्द इनमें भरा हुआ है। शुद्ध सच्चिदानन्दके आकर अर्थात् कारण हैं, वा सुद्ध सच्चिदानन्दरूप हैं—सो ये कौन राम हैं? जो भानुकुलकेतु हैं और जो चरित्र करते हैं'''।

सू० मिश्रजी उत्तरार्द्धका अर्थ यह भी करते हैं—'संसार-सागरसे पार उतारनेवाले प्रभु भी मनुष्यके समान चरित्र करते हैं।' शुद्ध=त्रिगुणातीत, तीनों मायिक गुणों (सत्, रज, तम) से परे। सत्=भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें एकरस। चित्=चैतन्यस्वरूप। कंद अर्थात् जगत्के मूलभूत।

नोट—१-बालकाण्ड १९ (२) मे *'बिधि हरिहर मय'* प्रत्यय अर्थोंपर विस्तृत विचार किया गया है। पाठक वहीं देख लें। यहाँ यह तद्रूप अर्थमें आया है। जब गुण और स्वरूपकी एकता होती है तब उसे तदात्मक कहते हैं। जैसे-घट मृत्तिकामय, कंठा स्वर्णमय, लवण क्षारमय। वैसे ही 'सच्चिदानन्दमय'=भीतर-बाहर शुद्ध सत्-चित्त आनन्दमय; सच्चिदानन्दरूप; जहाँ सत्-चित्त-आनन्दके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। यथा—*'चिदानंदमय देह तुम्हारी।'* (१२७। ५) देही देह विभाग रहित चिदानन्द ही चिदानन्दरूप है।

नोट—२ *'सुद्ध सच्चिदानंदमय'* यह ब्रह्मका स्वरूप कहा। फिर बताया कि वह ही रघुकुलमें उत्पन्न होकर मनुष्योंके-से चरित करते हैं और अन्तमें इस चरितका कारण कहते हैं—*'संसृति सागर सेतु।'* यथा—*'जग पावन कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि जन तरिहहिं॥'* (६। ६५)

नोट—३ बैजनाथजी—'*शुद्धसच्चिदानंदमय—कंद*=शुद्ध सच्चिदानन्दमय मेघ हैं। आनन्दमय मेघ हैं, आनन्द बरसाते हैं, जैसे जलमय मेघ पानी बरसाते हैं। ['जो कोई शुद्ध सच्चिदानन्दमय हैं उसे भी सुख देनेवाले हैं'—(रा० प्र०)]

एह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई॥ १॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरषु अपारा॥ २॥
करि दंडवत भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें॥ ३॥

शब्दार्थ—*भार*=बोझा जो एक आदमी उठा सके। **भरि भारा**=भरपूर बोझा लेकर, काँवर वा बँहगी पूरी भरी लदी हुई लेकर।

अर्थ—जब गुह निषादने यह खबर पायी तब प्रसन्न होकर उसने अपने प्यारे बन्धुवर्ग (सम्बन्धियों, कुटुम्बियों, जाति-भाई-बिरादरीवालों) को बुला लिया॥ १॥ और भेंटके लिये फल और (कंद आदि) मूल 'भार' भर-भरके लेकर श्रीरामचन्द्रजीसे मिलने चला, (उस समय) उसके हृदयमें बेहद हर्ष था॥ २॥ भेंटको आगे रखकर दण्डवत् करके वह प्रभु-(रामचन्द्र-) को अत्यन्त अनुरागसे देखने लगा॥ ३॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ '*गुह निषाद*' कहनेका भाव कि श्रीरामजीका आगमन सुनकर उसके सब विकार दूर हो गये। '*बंधु बोलाई*'—सबको बुलाया क्योंकि सब कुटुम्बियोंके सहित वह रामजीकी शरण होना चाहता है जैसा आगे उसने स्वयं कहा है, यथा—'***देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥***' (रा० प्र० कारका मत है कि प्रिय और भाइयोंको बुलाया। भाइयोंको साथ लिया क्योंकि उत्तम पदार्थ अकेले ही सेवन करना योग्य नहीं। अथवा, रामजी भाईसहित हैं अतः यह भी भाइयोंसहित गया।)

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—भगवदर्चन परिवारके साथ करना चाहिये यथा—'***सेवहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।***' इसलिये '***मुदित लिए प्रिय बंधु बुलाई***'। सुना कि सरकार श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी तथा मन्त्रीके सहित गङ्गातटपर विराजमान हैं, रथपर आये हैं, समझा कि गङ्गा-स्नानके लिये, पूजनके लिये आये हैं। अतः सात्त्विक आहार योग्य फल और मूल भार (बँहगी) में भरकर उपहाररूपमें ले चला—'**रिक्तपाणिर्न गच्छेत राजानं भिषजं गुरुम्।**' अपार हर्ष '*सेवक सदन स्वामि आगमनू*' से है।

नोट—'*गुह निषाद*' इति। '**पर अशुं गुहति इति गुहः**' अर्थात् जो पराया द्रव्य चुरावे वह गुह है। (पु० रा० कु०) '**गुह्यति वञ्चयति परस्वमिति गुहः**' अर्थात् पराये धनको चुरावे वह गुह है। (रा० प्र०) '**निषादो जीवहिंसकः**' जो जीव-हिंसा करे वह निषाद है। (पु० रा० कु०) '**ब्राह्मणेन शूद्रायां जातो निषादः।**' '**मत्स्यघातो निषादानाम्**' (मनुसंहिता) (वन्दन पाठकजी) ☞ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि इस देशके राजाका नाम 'गुह' है। यह निषाद जातिका है। यह रामचन्द्रजीका प्राणोंके समान मित्र था और बड़ा बली था यह सुनकर कि रामजी हमारे देशमें आये हैं वह बूढ़े अमात्यों तथा साथियोंसे युक्त होकर वहाँ गया। '**तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा। निषादजात्यो बलवान्स्थपतिश्चेति विश्रुतः॥**' '**स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम्। वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः॥**' (सर्ग ५० । ३३-३४) श्री० वि० त्रि० जी लिखते हैं कि गुह नाम भगवान् कार्तिकेयका है। वही नाम निषादराजका था। अथवा वह साक्षात् कार्तिकेयका अंश था, इसलिये गुह निषाद कहा।

पद्मपु० भूमिखण्डमें राजा पृथुके जन्मके वर्णनमें लिखा है कि जब ऋषियोंने राजा वेनको पकड़कर क्रोधमें भरे हुए उसकी बायीं जंघाको मथना आरम्भ किया। तो उससे काले अंजनकी राशिके समान एक नाटे कदका मनुष्य प्रकट हुआ। उसकी आकृति विलक्षण थी। लम्बा मुँह, विकराल आँखें, नील कवचके समान काला रंग, मोटे और चौड़े कान, बेडौल बढ़ी हुई बाहें और विशाल भद्दा-सा पेट—यही उसकी हुलिया थी। ऋषियोंने उसकी ओर देखा और कहा—निषीद (बैठ जाओ)। उनकी बात सुनकर वह भयसे व्याकुल

हो बैठ गया। इसलिये उसका नाम निषाद पड़ गया। पर्वतों और वनोंमें ही उसके वंशकी प्रतिष्ठा हुई।

टिप्पणी-१—पु० रा० कु०—*'हरष अपारा'* का भाव कि रामजीके अनुभवको ब्रह्मानन्द कहते हैं। जिनका अनुभवमात्र करनेसे ब्रह्मानन्द होता है, उनके दर्शनोंको जा रहा है; अतएव उसके आनन्दका पारावार नहीं है, जीमें उमंगें भरी हैं कि चलकर उनको देखूँगा और जिस प्रकार देखा सो आगे कहते ही हैं।

टिप्पणी—२ *'लिए फल मूल भेंट भरि भारा।''''''* इति। निषादराजको यह खबर मिली कि मुनिवेषसे श्रीसीतारामलक्ष्मणजी वनको जा रहे हैं, अतएव मुनियोंके योग्य जो भेंट है—कन्द-मूल-फल इत्यादि—वही लेकर मिलने गये। जब भरतजी आवेंगे तब दूसरे प्रकारकी भेंट, जो राजाओंके योग्य है उसे ले जायँगे, क्योंकि भरत राजा हैं।

टिप्पणी—३ *'भरि भारा'* का भाव कि भेंटका भार परिपूर्ण चाहिये, खाली न चाहिये, पात्र भरा रहना चाहिये। यथा—*'दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा॥'* (१। ३०५। ६) *'भरे सुधा सम सब पकवाने।'* (१। ३०५। २) *'अस कहि भेंट सँजोवन लागे। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥'* (१९३। २-३) इत्यादि। यहाँपर भी *'भार'* से वही अर्थ लेना चाहिये।

टिप्पणी—४ *'करि दंडवत भेंट धरि आगे।''''''* इति। अर्थात् प्रथम अपनी देह अर्पण की, फिर सब भेंट श्रीरामजीको नजर (अर्पण) की, ये तो बाह्य इन्द्रिय और पदार्थ हुए। इनको समर्पण करनेके बाद अन्तःकरण-(भीतरकी इन्द्रियों-) को समर्पण कर रहे हैं—*'प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे'*—अनुराग मनका धर्म है। तात्पर्य यह कि मन, बुद्धि और चित्तको उनके दर्शनमें लगा दिया है, यथा—*'राम लषन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥'*

***सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥ ४॥**
नाथ कुसल पद पंकज देखे। भएउँ भाग भाजनु जन लेखे॥ ५॥

शब्दार्थ—'**भाग-भाजन**'=भाग्यके पात्र, भाग्यवाले, बड़भागी।

अर्थ—रघुराई श्रीरामचन्द्रजी सहज प्रेमके वश हैं। उन्होंने उसे पास बिठाकर कुशल पूछी॥ ४॥ (निषादराज बोले) हे नाथ! आपके चरणकमलोंके दर्शनसे कुशल है, अब मैं बड़भागी लोगोंकी गिनतीमें आ गया अर्थात् मैं भी आपका एक बड़ा भाग्यवान् दास आजसे माना जाऊँगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'सहज सनेह बिबस'* इति। श्रीरामजी स्वाभाविक प्रेमके वश हैं। निषादने दण्डवत् की उससे वश न हुए, भेंट नजर की उससे वश न हुए, अति अनुरागसे जब वह स्वरूपके दर्शनमें लग गया तब वश हो गये, रहा न गया, पास बिठा ही तो लिया और कुशल-प्रश्न करने लगे। *'बिबस'*=विशेष वश। 'विवश' का भाव कि प्रेमके वश हैं और स्वाभाविक प्रेमके विशेष वश हैं। (ख) *'रघुराई'*=रघुकुलके राजा, रघुकुल श्रेष्ठ। इस शब्दका भाव यह है कि ये तो राजा हैं इनके यहाँ क्या पदार्थ नहीं है जिसकी उन्हें चाह हो, सभी कुछ तो है, अतएव ये भेंटसे वश नहीं हो सकते। पुनः भाव कि अन्य राजा सेवा करनेपर भी वशमें नहीं होते, यथा—*'भूप सुसेवित बस नहिं लेखिए'* और 'रघुराई' केवल निष्कपट-स्नेह मात्रसे विशेष वश हो जाते हैं। [(ग) *'पूँछी कुसल'*—(वाल्मी० २।५०) में श्रीरघुनाथजीने कहा है कि '**दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः। अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च॥**' (४२) अर्थात् गुह! यह प्रसन्नताकी बात है कि मैं बान्धवोंके सहित आपको नीरोग देखता हूँ। आपके राज्य, मित्र और वनका तो कुशल है? कुशल पूछना आत्मीयताका निदर्शक है] (घ) *'निकट बैठाई'*—यह बड़ा आदर और प्रेम सूचित करता है, यथा—*'अति आदर समीप बैठारी।'* (६।३७।४)

प० प० प्र०—(क) यह प्रथम परिचय है।† इसीसे यहाँ श्रीरामजी निषादराजसे भेंटे नहीं। जब

* यह अर्धाली राजापुरकी पोथीमें नहीं है।

† वाल्मीकीय और अ० रा० से निषादराजका परिचय पूर्वसे ही जान पड़ता है और सत्योपाख्यानमें तो स्पष्ट लिखा है कि कौमारावस्थामें वह चारों भाइयोंके साथ शिकारमें जाया करता था। अ० रा० में निषादको

वह श्रीभरतजीके साथ चित्रकूट आया उस समय *'केवट भेटेउ राम'।* (२४१) (ख) निकट बैठाना, कर गहि निकट बैठाना, परम निकट बैठाना और कर गहि परम निकट बैठाना ये उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रेमादरके निदर्शक हैं। 'निकट बैठने' का परम सौभाग्य प्रथम निषादराजको ही मिला। नारदजीके समान ही निषादराजका यह भाग्य है, क्योंकि नारदजीको भी *'स्वागत पूँछि निकट बैठारे।'* (३। ४१। ११) यह भाग्य सुग्रीवजीको नहीं मिला। विभीषणजीको भी *'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।'* (३। ४६। ३) श्रीसनकादिकजीको हाथ पकड़कर बैठाया है पर निकट नहीं, यथा—*'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे।'* (७। ३३। ६)। श्रीहनुमान्‌जीका सौभाग्य सबसे उत्कृष्ट है उनको तो प्रभुने *'कर गहि परम निकट बैठावा।'* (५। ३३। ४)

टिप्पणी—४ *'नाथ कुसल पद पंकज देखे।'''''* इति।—चरण-कमल कुशलके कारण हैं, मूल हैं, इसीसे उनके दर्शनसे कुशल होना कहा, यथा—*'कुसलमूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥'* (१९५। ७)। चरणके दर्शनसे जनकी गणनामें हो गया अर्थात् जिन्होंने आपके चरणोंकी भक्ति की वे भाग्यवान् जन हो गये, उन्हीं चरणोंका मुझे दर्शन हुआ अतएव मैं भी भाग्यवान् जन हो गया। यहाँ प्रथम उल्लास अलङ्कार है।

रा० प्र०—*'भएउँ भाग भाजनु जन लेखे'* अर्थात् भाग्यभाजन हुआ और आपके जनकी गणनामें आया।

प० प० प्र०—*'भएउँ भाग भाजनु जन लेखे'* इति। श्रीसुमित्राजीने भी कहा है, यथा—*'भूरिभागभाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउँ॥'* (७४) इससे सिद्ध हुआ कि श्रीरामजीके चरणोंमें मनका दृढ़तापूर्वक लग जाना ही *'सहज सनेह'* है। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीनिषादराजके प्रेमकी समता दिखायी। निषादराजका प्रेम केवल श्रीरामजीके रूपदर्शनप्रभावका ही परिणाम हैं। अभीतक वे जानते नहीं हैं कि *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'* हैं। यह मर्म लक्ष्मणजी समझायेंगे तब गुरु-शिष्यकी समता देख पड़ेगी। इसीसे यहाँ *'भूरि भाग भाजन'* नहीं कहा।

नोट—मिलान कीजिये—'**संपृष्टकुशलो रामं गुहः प्राञ्जलिरब्रवीत्। धन्योऽहमद्य मे जन्म नैषादं लोकपावन॥**' (२। ५। ६४) अर्थात् कुशल प्रश्न करनेपर गुहने हाथ जोड़कर कहा—'हे लोकपावन! मैं धन्य हूँ, आज मेरा निषादजातिमें जन्म लेना सफल हो गया।'

देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥ ६॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिअ जनु सब लोगु सिहाऊ॥ ७॥
कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयेसु आना॥ ८॥

शब्दार्थ—'**थापिअ**'=स्थापित कीजिये, प्रतिष्ठा, बड़ाई दीजिये।

अर्थ—हे देव! यह पृथ्वी, धन, घर सब आपका है, मैं परिवारसहित आपका नीच टहलुआ हूँ॥ ६॥ कृपा करके नगरमें चलिये और इस अपने दासकी प्रतिष्ठा बढ़ाइये जिससे सब लोग सिहावें अर्थात् प्रशंसा करें कि धन्य भाग्य इस निषादके हैं कि जिसके घर श्रीरामजी आये हैं, हमारे भाग्य ऐसे न हुए॥ ७॥ (श्रीरामचन्द्रजी बोले) हे चतुर सखे! तुमने सत्य (ठीक) ही कहा, पर पिताने मुझे और ही आज्ञा दी है॥ ८॥

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि गुह भोजनकी सामग्री और अर्घ्य लेकर रामजीके पास आया और उनसे प्रार्थना की कि 'हे महाबाहो! आपका स्वागत है। मेरे राज्यकी समस्त पृथ्वी आपकी ही है, हम सब आपके सेवक हैं, आप इस राज्यका शासन करें '**अर्घ्यं चोपानयच्छीघ्रं वाक्यं चेदमुवाच ह। स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही॥**' '**वयं प्रेष्या भवान्भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः॥**' (२। ५०। ३८, ३९) आपके लिये जैसी अयोध्या है वैसा ही इस देशको भी अपना ही समझिये—'**यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि**

सखा भी कहा है। वाल्मीकीयमें उसने कहा है कि हमलोग आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी हैं। श्रीरामजीने भी कहा है कि आपने हमलोगोंका सदा ही सत्कार किया है।

ते।' (सर्ग ५०। ३६) वही गोस्वामीजी इस चौपाईमें कह रहे हैं। पहले वहाँ राज्य अर्पण किया। वैसे ही यहाँ प्रथम *'धरनि'* पद दिया। श्लोक ३८ में *'मही'* शब्द भी है।

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—*'नीच जन'* का भाव कि घरकी नीच टहल मैं करूँगा। यहाँ निषादराजकी आत्मसमर्पण-भक्ति कही गयी।

टिप्पणी—२—*'पुर धारिअ पाऊ⋯'* का भाव कि सन्ध्याका समय है। इस समय सब लोग पुरमें जाकर रहते हैं (दूसरे, वहाँ सब सुखका सामान है)। चक्रवर्त्ती राजाके पुत्र हैं, नीचोंके घर कैसे जायँगे, यह सोचकर कहा कि *'कृपा करिअ'*—(बड़े लोगोंसे बोलनेका यह ढंग है)। मैं नीच हूँ, आपको घर ले जानेयोग्य नहीं हूँ, आप कृपा करके चलें। (पुनः भाव कि चलकर घरको पवित्र कर दीजिये। यथा—**'आगच्छ यामो नगरं पावनं कुरु मे गृहम्।'** (अ० रा० २। ५। ६६)

टिप्पणी—३ *'कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना'* इति। भाव कि तुमने जो कुछ कहा कि *'धरनि धाम⋯'* ये सभी बातें सत्य हैं। तुम सखा हो, सखाको जैसा चाहिये वैसा ही तुमने कहा है, क्योंकि तुम सुजान हो। तुमने जो कुछ कहा वह सब हृदयसे कहा है, कुछ बनाकर नहीं कहा। 'सखा' सम्बोधनका भाव कि मित्रके घर जानेमें संकोच नहीं होना चाहिये और मुझे भी कोई उज्र नहीं था, पर पिताकी आज्ञा नगरमें जानेकी नहीं है, आज्ञा-पालन परम धर्म है और तुम सुजान हो, जानते ही हो कि संकट सहकर भी धर्मको निबाहना चाहिये; इसीसे नगरमें नहीं जा सकता।

नोट—२ श्रीरामजीका सखा बननेका प्रथम सम्मान श्रीनिषादराजको ही मिला, पीछे सुग्रीवको और अन्तमें विभीषणजीको। पर इन तीनोंमें पूर्ण निष्काम और अमानी तो निषादराज ही हैं। (प० प० प्र०) उत्तरकाण्डमें तीनोंका मिलान दिया गया है।

नोट—३ मिलान कीजिये—**'राज्यं ममैतत्ते सर्वं त्वं सखा मेऽतिवल्लभः।'** (अ० रा० २। ५। ६९)। अर्थात् तुम्हारा यह सम्पूर्ण राज्य मेरा ही है और तुम भी मेरे अत्यन्त प्रिय सखा हो।

दो०—बरष चारि दस बासु बन मुनि ब्रत बेषु अहारु।
ग्राम बासु नहिं उचित सुनि गुहहि भएउ दुख भारु॥ ८८॥

अर्थ—चौदह वर्ष वनमें निवास, मुनियोंके व्रत, वेष और भोजनकी आज्ञा है। (अतएव) ग्राममें ठहरना उचित नहीं है। यह सुनकर गुहको भारी दुःख हुआ (कि ये अतिकोमल हैं, वर्षा, ग्रीष्म, शरद् और हिममें बिना ग्रामके कैसे निर्वाह होगा। पुनः इससे दुःख हुआ कि ग्राममें आनेकी आज्ञा नहीं, हमारा घर पवित्र न कर सके)॥ ८८॥

नोट—१ (क) *'बरष चारि दस बासु बन'* का भाव कि अभी वनवासका प्रारम्भ है। इसीसे अल्पकाल वाचक शब्द *'चारि'* पहले दिया। ऐसा ही मातासे भी कहा था। (ख) यहाँ दो अर्द्धालियोंमें दो बातें जो गुहने कही थीं उन दोनोंका उत्तर दिया कि—तुम पुरमें वास करनेको कहते हो और पिताकी आज्ञा १४ वर्षतक वनमें वास करनेकी है। तुम यहाँ राज्य करनेको कहते हो और मुझे मुनियोंकी तरह रहनेकी आज्ञा है। (पु० रा० कु०)

नोट—२ यहाँ गुहसे कहा कि *'ग्राम बासु नहिं उचित'*,परन्तु सुग्रीवसे कहा है कि *'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा'*, और विभीषणजीसे यह कहा है कि *'पिता बचन मैं नगर न जाऊँ।'* (क) तीनों जगह पृथक्-पृथक् नाम देकर ग्राम, पुर और नगर तीनोंका निषेध जनाया। अर्थात् तीनोंमेंसे कहीं जानेकी आज्ञा नहीं है। यह *'बिसेषि उदासी'* का अर्थ इस तरह स्पष्ट किया गया है। वा, (ख) निषादराज ग्रामवासी हैं; अतः ग्राम कहा, सुग्रीवजी पुरवासी हैं अतएव पुर कहा और विभीषणजी नगरवासी हैं इससे वहाँ नगर कहा। (रा० प्र०) ☞मेरी समझमें गोस्वामीजीने इन शब्दोंको प्रायः पर्य्यायवाची माना है। जैसे, 'अवध' को कहीं नगर, कहीं पुर इत्यादि कहा है। गुहने रामजीसे स्वयं कहा है कि *'पुर धारिअ पाऊँ'* और

रामजी *'ग्रामवास'* कह रहे हैं; इससे पुर और ग्राम दोनों समानार्थवाची शब्द यहाँ समझ पड़ते हैं। अथवा वानप्रस्थोंके लिये मनुस्मृतिमें जो आज्ञा दी है—**'ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः'** उसमें 'ग्राम' शब्द आबादीके अर्थमें आया है उसीके अनुसार यहाँ 'ग्राम' शब्द दिया गया है।

नोट—३ बाबा हरिदास—(क) '४+१०' से १४ होता है; पर और तरह भी १४ हो सकता है। जैसे-६+८, ५+९, ३+११, इत्यादि। यहाँ ४ और १० ही कहनेका क्या भाव है? उत्तर—चर गति भक्षणयोः धातु है अर्थात् चर चलनेको भी कहते हैं, अतएव 'चार' कहकर जनाया कि ये दुःखके १४ वर्ष शीघ्र बीत जायँगे, फिर न लौटेंगे। (ख)—*'मुनिब्रत बेषु अहार'* से पञ्च-विषयोंसे वैराग्य जनाया है। श्रीरामजी विशेष उदासी हैं, तन-मनसे इनका वैराग्य है। वनवाससे रूप-विषयसे विरोध है, मुनिव्रतसे रस-विषयसे विरोध है। मुनिव्रत नीरस है, मुनिवेषसे गन्धविषयसे विरोध, मुनि-अहारसे शब्द-विषयसे विरोध और ग्राम-वास तथा स्पर्श-विषयसे विरोध है।

राम लषन सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर नारी॥ १॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥ २॥
एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोचन लाहु हमहिं बिधि दीन्हा॥ ३॥

अर्थ—श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका रूप देखकर गाँवके स्त्री पुरुष प्रेमसहित कहते हैं॥ १॥ हे सखी! कहो तो, वे माता-पिता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे (सुन्दर सुकुमार) बालकोंको वनमें भेज दिया है॥ २॥ दूसरे कोई कहते हैं कि राजाने अच्छा किया, ब्रह्माने हमें नेत्रोंका लाभ दिया॥ ३॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) *'रूप निहारी'* का भाव कि ऐसे कोमल सुन्दर बालक क्या वनके योग्य हैं? कदापि नहीं। प्रथम निषादराजने खबर पायी, इससे वह प्रथम मिलने गया, जब पुरवासियोंको खबर मिली तब वे भी देखनेको चले। (ख)—*'सप्रेम'* का भाव कि इनमें प्रेम है तभी तो इन्हें तरस आता है और वे कहते हैं कि क्या इनके माता-पिता ऐसे सुन्दर-सुकुमार कुमारोंपर भी प्रेम नहीं करते, बड़े कठोर जान पड़ते हैं। निर्दयता व्यञ्जित होना 'वाच्यसिद्धाङ्गगुणीभूत व्यङ्ग' है।

टिप्पणी—२ *'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे'* इति। भाव कि संसारमें तो कोई ऐसा नहीं है जिसे ये प्रिय न लगते हों, फिर भला माता-पिताको ये कैसे अप्रिय लगे, यह आश्चर्य है, अतएव वह दूसरेसे पूछती है कि वे माता-पिता कैसे हैं। ऐसा ही भरतजीने कैकेयीसे पूछा है—*'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं॥ भे अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही॥'* (१६२। ६—७)

नोट—१ यही यमुनातटवासी स्त्री-पुरुषोंने कहा है। यथा—*'ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'* (१११।७) ये दोनों चरण तथा *'राम लषन सिय रूप निहारी'* यह चरण दोहा १११ में पुनः आये हैं। दोहा १११।८ में जो कहा है कि *'होहिं सनेह बिकल नरनारी।'* वही व्याकुलता यहाँ *'कहहिं सप्रेम ग्राम नरनारी। ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥'* इन शब्दोंसे प्रकट की है। दोनों स्थानोंमें वही चरण देकर जनाया कि दोनों जगह एक ही भाव है। इसी तरह सर्वत्र जहाँ ये जाते हैं सब ऐसा ही कहते हैं। इनकी सुकुमारता आदि देखकर सभी व्याकुल हो जाते हैं।

टिप्पणी—३ (क) *'भल भूपति'''* अर्थात् पृथ्वीपति हैं, इन्हें वनवास देकर पृथ्वीभरका भला किया, और हमारा भी किया कि हमको दर्शन दिया। प्रथमने राजाको दोष दिया। उसपर दूसरेने उसकी बातका खण्डन किया कि पृथ्वीपतिको ऐसा ही चाहिये, नहीं तो दर्शन कैसे होते, इस बहाने दर्शन दिया। (ख) *'लोचन लाहु हमहिं बिधि दीन्हा'*—अर्थात् विधिकी प्रेरणासे ही ये इस मार्गसे आये, नहीं तो और किसी मार्गसे चले जाते।

नोट—२ मिलान कीजिये—*'एक कहैं बाम बिधि दाहिनो हमको भयो, उत कीन्हीं पीठि, इत*

को सुडीठि भई है। तुलसी सहित बनबासी मुनि हमरिऔ, अनायास अधिक अघाइ बनि गयी है।' (गी० २। ३४) *'बिपिन गवनु भले भूखेको सुनाजु भो।'* (गी० २। ३३) *'जोगीजन अगम दरस पायो पावँरनि।'* (गी० २। ३०) इत्यादि।

तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना॥ ४॥
लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा॥ ५॥
पुरजन करि जोहारु घर आये। रघुबर संध्या करन सिधाये॥ ६॥

शब्दार्थ—'शिंशिपा'—इसका अर्थ काष्ठजिह्वा स्वामीने यों लिखा है—*'तेहि पुरमें सिंसुपावृक्ष तर रहे राम हरषाय। आत सरीफादिक नामनसे जगमें यह कहि जाय॥ सिंस नाम सूईस ताको जल पीवन ते जो डिढाय। ताते नाम सिंसुपा यह है नागदेव को भाय॥'* पं० रामकुमारजी और हरिहरप्रसादजीने 'सीसो' अर्थात् शीशम लिखा है। दीनजी लिखते हैं कि अशोकको भी सिंसुपा कहते हैं अतएव यहाँ अशोक ही अर्थ है। वन्दन पाठकजी पं० रामगुलामजीकी टिप्पणीमें लिखते हैं कि 'शिंशुपा गुग्गुल, शीशम (सीसो), अशोक और शरीफा' को कहते हैं।—**'पिच्छिलाऽगुरू शिंशिपा इति।'** (अमरकोश) (८७। १—३) भी देखिये।

अर्थ—तब निषादराजने हृदयमें विचार किया कि *'सिंसुपा'* का वृक्ष सुन्दर है॥ ४॥ (ऐसा जानकर) रघुनाथजीको ले जाकर वह स्थान दिखाया। रामचन्द्रजीने कहा कि यह सब तरह सुन्दर है॥ ५॥ पुरवासी प्रणाम करके घर लौटे और रघुवर श्रीरामजी संध्या करने चल दिये॥ ६॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—१ (क) चौपाईका सम्बन्ध *'बरस चारि दस बास बन''''भएउ गुहहि दुख भारु'* इस दोहेसे है, बीचमें पुरवासियोंकी चर्चा होने लगी थी। (ख) *'निषादपति'* का भाव कि ये राजा हैं, राजाओंके ठहरनेयोग्य स्थान राजा ही अनुमान कर सकता है, अतएव अनुमान करनेमें राजा-सबन्धी नाम दिया और इसका सोचा हुआ स्थान श्रीरामजीको पसंद आया ही; क्यों न आता? [अथवा, निषादोंकी जाति स्वभाव तथा अभ्याससे जड़, कुटिल, दुर्बुद्धि होती है, यथा—*'हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाति॥''सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ।'* (२५१। ४। ६) ऐसोंका राजा होनेपर भी उसने 'शिंशुपा तरु' ही चुना, यह उनके स्वभावके विरुद्ध हुआ, यह जनाया। शीशमके वृक्ष चैत्र वैशाखमें फूलते हैं। उनके पुष्प बहुत मधुर सुगंधवाले और मनोहर होते हैं। निषादराज जानते थे कि *'सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास। तहँ सिय राम सयन निसि करहीं।'* अतएव उन्होंने सुमन सुगंधवाला स्थान चुना (प० प० प्र०)]

२—*'लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा।''''*' इति। राजाका चुना हुआ स्थान था फिर दिखानेकी क्या जरूरत थी? श्रीरामजीका मन रखनेके लिये और श्रीरामजीने उसका मन रखा, इसीसे स्थानकी प्रशंसा की कि *'सब भाँति सुहावा'* है, अर्थात् स्थान सुन्दर है, गङ्गाजीके निकट है, ग्रामके बाहर है, समभूमि है, स्वच्छ है, छाया सघन है और हमारे भक्त निषादराजका पसंद किया हुआ है।

[अथवा, यद्यपि निषादपति और रघुनाथजी दोनों ही राजा हैं तथापि निषादराज अपनेको सेवक ही मानते हैं, इससे *'ठाउँ'* दिखाना अपना कर्तव्य समझते हैं। *'मैं जन नीच'* से दास्यभाव और दीनता प्रकट होती है। *'कहेउ राम'*—राम शब्द देकर जनाया कि स्थानको देखकर उनको आनन्द हुआ और निषादराजसे सहमत होकर उन्होंने उनको भी आनन्द दिया। (प० प० प्र०)]

३—*'पुरजन करि जोहारु''''*' इति। जब निषादराज स्थान दिखाने गये तब पुरवासी भी साथ गये और प्रणाम करके वहाँसे घर आये। तब रघुनाथजी संध्या करने गये। भाव यह कि पुरवासी मारे प्रेमके रामजीके पीछे साथ-साथ चले आये इसीसे उनको छोड़कर (उनके प्रेमसे) संध्या करने न गये, जब वे चले गये तब संध्या करने गये। संध्या होनेके कारण पुरवासी घर लौट गये, नहीं तो छोड़कर अभी न जाते। वेदोक्त धर्मकी मर्यादा रखते हैं इसीसे संध्या करने गये। अतएव *'रघुबर'* पद दिया। (श्रीरामजी क्षत्रिय-द्विज-

उपनीत हैं। **'अहरहः संध्यामुपासीत'** यह द्विजोंका प्रथम मुख्य धर्म है। श्रीरामजी रघुकुलश्रेष्ठ हैं। वे धर्ममर्यादाका पालन क्यों न करेंगे। संध्याहीन द्विज 'अशुचि' है, उसको अन्य श्रौत-स्मार्त-पौराणिक कर्म करनेका अधिकार नहीं है। प० प० प्र०। ☞संध्या—१।२२६। १, १। २३७।६ देखिये।)

गुह सँवारि साथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई॥७॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी*॥८॥

अर्थ—गुहने कुश और नवीन कोमल पत्तोंसे युक्त कोमल (गुलगुली) सुन्दर साथरी सजाकर बिछायी॥७॥ पवित्र मीठे और कोमल पहचानकर फल और मूल दोनोंमें भर-भर लाकर रखे और पवित्र मीठा जल भी रखा॥८॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार पहले कुश बिछाकर तब ऊपरसे पत्ते बिछाये, इसीसे पहले *'कुस'* कहा तब *'किसलय'* सँवारकर बिछाये, अतः *'सुहाई'* है। *'कुस किसलयमय'*—प्रचुर, विकार और प्रधान अर्थके लिये 'मय' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यहाँ 'प्रचुर' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अर्थात् कुशकिसलय बहुत हैं, अतएव साथरी ऊँची होनेसे मृदुल है। यह साथरी श्रीसीतारामजीके शयनके लिये गुहने स्वयं बिछायी।

प० प० प्र०—निषादराज जानते हैं कि श्रीसीतारामजीका *'क्षीरफेन मृदु बिषद सुहाई'* शय्यापर शयन करनेका अभ्यास है। (दोहा ९० देखिये) अतः उन्होंने प्रथम तो सुमन सुगंधयुक्त शीशमतरुके नीचे स्थान चुन लिया और शय्या भी मृदुल सुहाई बनायी। गङ्गातटके वृक्षलताओंके मृदु पत्तोंसे बनायी गयी है, अतः शुचि भी है। राजमहलमें चारु चँदोवा है तो इधर गङ्गा नदीपर निशापति चन्द्रमा ही चँदोवा है। ☞ इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रीसीतारामजीको यावच्छक्य परिस्थित्यनुसार जितना सुख देना सम्भव था उतना निषादराजने प्रयत्न प्रेमपरिपूर्ण हृदयसे किया। सुग्रीवविभीषणने ऐसा नहीं किया; क्योंकि वे अपनेको राजा ही मानते थे।

टिप्पणी—२ *'सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी'* इति। (क)—*'सुचि'* शब्द सूचित कर रहा है कि कोई-कोई फलमूल अपवित्र भी होते हैं जैसे—ऊमरि-(गूलर-) का फल, विलायती अरंडका फल जिसे पपीता कहते हैं, कैथा, कुँदरू इत्यादि फल और गाजर इत्यादि मूल। *'मुनि ब्रत बेष अहार'* ऐसा रामजीने कहा था, अतएव मुनियोंके योग्य जो फल-मूल हैं उन्हींको लाये हैं। (ख) *'जानी'* का भाव कि ये फल उन वृक्षों और उस भूमिके हैं जिन्हें निषादराज जानते हैं कि इसके फल-मूल निस्सन्देह मधुर और कोमल हैं। (ग) *'दोना भरि भरि'* अर्थात् बहुत-से दोनोंमें भर-भरकर लाये, कई प्रकारके हैं, एक-एक प्रकारके पृथक्-पृथक् दोनोंमें रखे। चार मूर्ति खानेवाले हैं, इसीसे प्रत्येक किस्मके भर-भरकर लाये।

नोट—(चैत्र-वैशाखमें ढाकमें नवीन पत्ते निकलते हैं, जिसके पत्तल और दोने बनाये जाते हैं। यह वृक्ष पवित्र वृक्षोंमें माना गया है। इसकी लकड़ीसे यज्ञपात्र बनते हैं। उपनयन-संस्कारमें इसीका दण्ड ग्रहण किया जाता है। इसको ब्रह्मवृक्ष भी कहते हैं। उसीके पत्तोंके दोने बनाये। आज भी नेपाली लोग दोने

---

* राजापुर और भागवतदासजीकी पोथीमें 'पानी' पाठ है। काशिराज, पं० राम गु० द्विवेदी एवं वंदन पाठकजी और पं० रामकुमारजीने 'आनी' पाठ दिया है। 'पानी' पाठमें अन्वय यों होगा कि 'शुचि फल मूल दोना भरि-भरि राखेसि और पानी भरि-भरि राखेसि'। आनी=लाकर। संभव है कि कर्मकाण्डी पण्डितोंने यह समझकर कि अस्पृश्य जातिके हाथसे लाया हुआ जल कदापि न ग्रहण करेंगे, 'पानी' के बदले 'आनी' पाठ कर दिया हो।

☞ किंतु स्मरण रखना चाहिये कि भगवान् अवतार लेनेपर भी प्रेमहीके भूखे रहते हैं। जहाँ प्रेम है वहाँ नियम नहीं रह जाता। श्रीप्रज्ञानानन्दजीका भी यही मत है। देखिये और विचारिये तो कि 'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा' ऐसे निषादराजको श्रीभरतजी, गुरु वसिष्ठजी, श्रीरामलक्ष्मणजी गले और छातीसे लगाकर मिले हैं। इनमेंसे किसीने भी तो स्पर्श-दोष नहीं माना और न किसीने दोष-निवारणार्थ स्नान ही किया। शबरी भीलिनी तो चरणोंमें लपट गयी थी, वहाँपर भी भगवान् रामने स्नान नहीं किया।

बड़े सुन्दर बनाते हैं, रसदार साग आदि उसीमें खाते हैं। श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जंगली लोग आज भी ऐसा दोना और घट पत्तोंका बना लेते हैं, जिससे पुरवा और घट आदिका कार्य अच्छी तरह निकल जाता है और उसमेंसे पानी नहीं टपकता। निषादराजने वैसा ही दोना बनाकर उसमें गङ्गाजल भरके सरकारके पीनेके लिये रखा। जनश्रुति यह है कि तभीसे लोग मल्लाहोंका जलग्रहण करने लगे, इसके पहिले इनका जल-ग्रहण नहीं होता था। इस प्रकारसे उसकी थापना भी हो गयी। वह कहता था कि *'थापिय जन सब लोग सिहाऊ।'*

दो०—सिय सुमंत्र भ्राता सहित कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ॥८९॥

अर्थ—श्रीसीताजी, सुमन्त्रजी और भाई लक्ष्मणजीसमेत कन्द, मूल, फल खाकर रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीने शयन किया (सो रहे) और भाई लक्ष्मणजी पैर दबाते हैं॥८९॥

प० प० प्र०—ऊपर कहा है कि *'सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि'''''* 'लानेमें 'कन्द' का नाम नहीं है। यहाँ *'कंद मूल फल खाइ'* से जनाया कि कन्द भी दोनोंमें रखकर लाया था। इसी प्रकार अन्य प्रसङ्गोंमें भी जहाँ केवल फल, फल-मूल, कन्द-मूल इत्यादिके खानेका उल्लेख है—वहाँ भी *'कंद मूल फल अंकुर नीके'* का ग्रहण करना उचित है। (यह भी हो सकता है कि निषादके लानेके समय *'मूल फल'* कहकर जनाया कि कन्द और मूलको वह एक ही जानता है। क्योंकि कन्द भी मूल ही है। गूदेदार और बिना रेशेकी खानेयोग्य जड़ोंको लोग कन्द कहते हैं। मूलकी एक किस्म कन्द भी है। और खानेके समय कन्द और मूल दोनों लिखे, क्योंकि खानेवाले कन्द और मूलमें भेद मानते हैं।)

पुरुषोत्तम रामकुमार—(क) पहले स्त्रीको, बुड्ढेको और लड़केको भोजन देकर तब आपने भोजन किया, यह धर्म है। ऐसा करना रघुकुलश्रेष्ठके योग्य ही है; इसीसे बड़ाईका नाम यहाँ दिया—'रघुवंशमणि'। ऐसे ही बालकाण्डमें जब ऋषियोंको साथमें लेकर भोजन किया था तब भी यही नाम दिया था, यथा—*'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्राम।'* (२१७) (ख) चरणसेवा लक्ष्मणजीने की; क्योंकि एक तो माताकी आज्ञा है कि तुम सब सेवा करना जिसमें श्रीसीतारामजीको सुख मिले, दूसरे निषादराज अपनेको अपावन समझकर उनके शरीरको स्पर्श नहीं कर सकता। उसने साथरी—बिछानेमें अपना अधिकार समझकर साथरी बिछायी थी।

वि० त्रि०—*'सयन कीन्ह''' ।'* शुचि फल-मूल जो निषादराज लाये थे, उसे सरकारने सीताजी, लक्ष्मणजी और मन्त्रीके साथ स्वीकार किया। भोजनोपरान्त निषादराजकी बनायी हुई साथरीपर सोये। 'सोये' कहनेका भाव यह कि पिछली रात्रि यात्रामें ही बीती, जागते ही रहे। आज सोये, लक्ष्मणजी चरणसेवामें लग गये। सरकार जब बाहर रहते हैं तो चरणसेवा लक्ष्मणजी ही करते हैं, यथा—*'चापत चरन लखन उर लाये।'* चरण-सेवाका अवसर बड़े भाग्यसे मिलता है, यथा—*'बड़ भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥'* वनमें जानेसे जैसा सुअवसर लक्ष्मणजीको सेवाका मिलेगा, वैसा सुअवसर घरपर मिलना दुर्लभ है, इसी बातका लक्ष्य करके भगवती सुमित्रा देवीने कहा था कि *'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥'*

उठे लषनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी॥१॥
कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥२॥
गुह बोलाइ पाहरू प्रतीती। ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती॥३॥
आपु लषन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई॥४॥

अर्थ—प्रभुको सोते जानकर लक्ष्मणजी उठे। कोमल वाणीसे मन्त्रीको सोनेके लिये कहकर॥१॥ वे

कुछ दूरीपर धनुषबाणको सजाकर और वीरासनसे बैठकर जागने (पहरा देने) लगे॥ २॥ गुहने विश्वासवाले पहरेदारोंको बुलाकर अत्यन्त प्रेमसे उनको स्थान-स्थानपर रखा॥ ३॥ और आप कमरमें तरकश और धनुषपर बाण चढ़ाकर श्रीलक्ष्मणजीके पास जा बैठा॥ ४॥

नोट—'*उठे लषनु प्रभु सोवत जानी*' इति। इस कथनसे कई बातें सूचित की हैं। एक तो यह कि श्रीसीतारामजीको आज शीघ्र ही निद्रा आ गयी। श्रीअयोध्याजी एवं श्रीजनकपुरमें नींद इतनी शीघ्र न आती थी जैसा '*अज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही॥*' (१। ३५६। ६) '*पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥*' (१। २२६। ८) से स्पष्ट है। दूसरे यह कि आज त्रैलोक्यपावनी गङ्गाजीके तटपर शिंशिपा वृक्षके नीचे, नैसर्गिक सुमनसुगन्धित शीतल मन्द पवनमें, कुश-किसलयमय साथरीपर •इस आनन्दकी नींद और इतनी शीघ्र आनेसे सूचित किया कि युगल सरकारका चित्त श्रीअवध-मिथिलासे भी अधिक निश्चिन्त और प्रसन्न है। (प० प० प्र०) अ० रा० में इस भावका दर्शक श्लोक यह है—'**उवास तत्र नगरप्रासादाग्रे यथा पुरा। सुष्वाप तत्र वैदेह्या पर्यङ्क इव संस्कृते॥**' (२। ५। ७२) अर्थात् पहले जिस प्रकार अयोध्यापुरीके महलमें श्रीजनकनन्दिनीजीके सहित सुसज्जित पलंगपर लेटा करते थे उसी प्रकार कुश और पत्तोंकी शय्यापर सो गये। तीसरे, श्रीलक्ष्मणजीकी नित्यकी रात्रिचर्या जो आजसे होगी वह बता दिया कि ये चौदह वर्षतक रात्रिमें न सोयेंगे, श्रीसीतारामजीके शयन करनेपर पहरा दिया करेंगे। चौथे, आज जो सोनेकी आज्ञाका उल्लेख नहीं हुआ है वह इसलिये कि आज आज्ञा नहीं ही दी गयी है, क्योंकि प्रभु जानते हैं कि ये सोवेंगे नहीं। पाँचवें, लक्ष्मणजीद्वारा निषादराजको परमार्थका उपदेश भी कराना है और लोकव्यवहारके अनुसार सफरसे थकावट होती है अतः शीघ्र नींद आयी। इत्यादि।

पुरुषोत्तम रामकुमार—१'*कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी*' इति। मन्त्री बड़े चिन्तामें हैं कि कैसे-कैसे कष्ट ये पा रहे हैं, कैसेहू ये लौट चलें; इत्यादि सोचके मारे व्याकुल हैं, सोते नहीं हैं, अतएव मृदु वाणी कहकर उन्हें सोनेको भेजा। दूसरे, श्रीसीतारामजी शयन कर रहे हैं, निद्रा भङ्ग न हो जाय, इससे मृदु-धीमी वाणीसे बोले और इसीसे चरण-सेवा बंद करके उठ आये। (उपदेश है कि जहाँ गुरुजन सोते हों वहाँ यदि बोलनेकी आवश्यकता पड़े तो बहुत धीमे बोले। प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ (क) '*कछुक दूरि सजि बान सरासन*'—न बहुत दूर और न बहुत पाससीसे पहरा ठीक बन सकता है; अतएव कुछ दूरपर बैठे। रोदा चढ़ाकर वीरासनसे* बैठे अर्थात् सावधान होकर पहरा देने लगे, जैसे राजाओंके यहाँ पहरा रहता है। (श्रीलक्ष्मणजीसे गुहने शयन करनेको कहा तब लक्ष्मणजीने उत्तर दिया कि श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजीके साथ भूमिपर सो रहे हैं, ऐसी दशामें कैसे सो सकता हूँ अथवा जीवनके अन्य सुखोंको भोग सकता हूँ। ऐसा वाल्मीकिजी लिखते हैं—'**कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया। शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥**' (२। ५१। ९) श्रीसीतारामजी सुखपूर्वक शयन करें इस विचारसे श्रीलक्ष्मणजी जाग रहे हैं, यथा—'**तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम्।**' (वाल्मी० २। ५१। १) [(ख) '*अति प्रीती*' से वाल्मी० ५१ मेंके गुहके '**नहि रामात्प्रियतमो ममास्ते भुवि कश्चन। ब्रवीम्येव च ते सत्यं सत्येनैव च ते शपे॥**' (४) इन वचनोंका भाव दरसा दिया गया है। वह लक्ष्मणजीसे कहता है कि मैं सत्यकी शपथ करके तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ कि रामसे बढ़कर संसारमें मुझे दूसरा प्रिय नहीं है।—इसीसे ज्ञातिवर्गसहित स्वयं पहरा दिया।]

टिप्पणी—३ '*गुह बोलाइ पाहरू प्रतीती।*····' इति। अर्थात् नाके-नाकेपर पहरा बिठा दिया था। यहाँ कोई ऐसा भय नहीं था कि ऐसा करता। उसके ऐसा करनेका कारण 'अति प्रीति' बताते हैं। श्रीरामजीमें अत्यन्त प्रेम है, इससे स्थान-स्थानपर कई-कई पहरे बिठा दिये। पुनः, '*प्रतीती*' और '*अति प्रीति*' का भाव यह भी होता है कि जिनमें अत्यन्त प्रीति और प्रतीति है उन्हींको पहरेपर बिठाया—पुत्रमें प्रीति

* बैठनेका एक प्रकारका आसन या मुद्रा। इसमें बायें पैर और टखनेपर दाहिनी जाँघ रखकर बैठते हैं।

और मित्रमें प्रतीति होती है, यथा—*'सुतकी प्रीति प्रतीति मीतकी'''।'* (विनय) पुत्रों और मित्रोंको पहरेके लिये नियुक्त किया।'

टिप्पणी—४ *'आपु लषन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी''' '* इति। (क) तरकश कसकर, बाण लेकर और धनुष चढ़ाकर लक्ष्मणजीके पास हाजिर हुआ कि जो आज्ञा हो सो करूँ। (ख) *'भाथी'* से जनाया कि इसके यहाँ छोटे-छोटे तरकश, बाण और धनुष हैं जैसा आगे स्पष्ट कहा गया है, यथा—*'सुमिरि रामपद पंकज पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं॥' 'अँगरी पहिरि कूड़ि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥'* (१९१। ४। ५) वह सब गँवारू ठाट है, जैसे बड़े राजाओंके यहाँ बड़े-बड़े शस्त्रास्त्र होते हैं वैसे नहीं हैं। लक्ष्मणजी धनुष चढ़ाये बाण लिये बैठे हैं, अतएव उन्हें देखकर यह भी वैसे ही जा बैठा। [पुन: पास जाकर बैठनेमें भाव यह है कि श्रीरामानुजजीसे कुछ-न-कुछ सत्सङ्गकी चर्चा हो सकेगी और इससे निद्राका आक्रमण भी न होगा। जब निषादराज स्वयं सजग रहेंगे तब नाके-नाकेपर बैठे हुए पहरेदार भी सजग रहेंगे—**'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।'** (गीता)। प० प० प्र०]

श्रीलक्ष्मणगीता

(विषादयोग-भूमिका)

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयेउ प्रेम बस हृदय बिषादू॥५॥
तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लषन सन कहई॥६॥
भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा*॥७॥
मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥८॥

शब्दार्थ—**सुभाय**=स्वाभाविक ही, सहज ही, बिना सजाये-सँवारे ही। **चौबारे**=वह बँगला जिसमें चारों ओर दरवाजे हों, जिसमें चारों ओरसे हवा आ-जा सके। =कोठेके ऊपरकी वह कोठरी जिसके चारों ओर दरवाजे हों। चौ=चार। बार=द्वार। बैजनाथजी लिखते हैं कि जयपुर आदिमें त्रिद्वारीको 'बारी' कहते हैं। जिस अजिरके चारों ओर त्रिद्वारी लगी हो उसे 'चौबारा' कहते हैं।

अर्थ—प्रभुको (साथरीपर) सोते हुए देखकर प्रेमके कारण निषादराजके हृदयमें बड़ा दुःख हुआ॥५॥ उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया, नेत्रोंसे जल बह रहा है। वह लक्ष्मणजीसे प्रेमसहित ये वचन कह रहा है॥६॥ राजाका महल स्वाभाविक ही सुन्दर है। इन्द्रका महल भी उसकी उपमा या समताको नहीं पाता (बराबरी नहीं कर सकता)॥७॥ सुन्दर मणिरचित 'चौबारे' हैं मानो रतिके पति कामदेवने अपने हाथों सजाकर बनाये हैं॥८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तमरामकुमार—१ (क) निषादराज माधुर्यमें पगे हुए हैं इसीसे प्रभुको दुःखी समझकर प्रेमके मारे उनको दुःख हो रहा है। श्रीलक्ष्मणजी ऐश्वर्य कहकर उसके दुःखको दूर करेंगे। कैसा भारी दुःख है यह उसकी दशा दिखाकर कविने सूचित कर दिया है। (ख) *'सोवत प्रभुहि निहारि'* से जनाया कि सो जानेपर जब लक्ष्मणजी उठ आये तब वह आया। पुनः, *'सोवत निहारि'* का भाव उसके वचनोंसे स्पष्ट होता है कि कुश-पत्तोंपर ऐसे बड़े नाजमें पले हुए राजकुमारको लेटा देखा; यह सोचकर दुःख हुआ।

टिप्पणी—२ *'तनु पुलकित'''' '* इति। यह कहकर कि वह प्रेम-वश दुःखित हुआ, अब उसके प्रेमकी दशा दिखाते हैं कि रोयें खड़े हैं, अश्रुका प्रवाह जारी है और प्रेमसे गद्गद वचन कह रहा है। दुःखका समाधान अपनेसे नहीं हो रहा है कि जिससे चित्तको संतोष हो, अतएव लक्ष्मणजीसे अपना दुःख कह रहा है कि ये समाधान करें।

टिप्पणी—३ *'भूपति भवन सुभाय सुहावा''' '* इति।—भाव कि महाराज दशरथ पृथ्वीभरके स्वामी हैं,

* राजापुरकी प्रतिमें 'आवा' है—(ला० सीताराम)। पर रा० प० और गी० प्रे० ने 'पावा' पाठ दिया है।

पृथ्वीभरमें इनका-सा महल कहीं नहीं जिससे इसकी उपमा दी जाय, रहा स्वर्ग सो उसमें औरकी क्या उपमा दें, इन्द्रके ही भवनसे उपमा देना उचित है, क्योंकि उससे बढ़कर वहाँ किसीका महल नहीं। दूसरे ये 'भू-पति' हैं और वह 'सुर-पति'। राजाके लिये राजाकी ही उपमा योग्य है; पर वह भी समताको नहीं पहुँचता।

टिप्पणी—४ *'सँवारे'* अत्यन्त सुन्दर बनाये। 'रति' अत्यन्त सुन्दर है उसका पति कामदेव तो फिर सुन्दरताकी मानो अवधि ही हुआ चाहे। देवताओंमें इससे अधिक सुन्दर कोई नहीं। इसका स्वयं अपने हाथोंसे और वह भी सँवारकर बनाया हुआ स्थान भी सुन्दरताकी सीमा ही होगा। (ख)—*'मनिमय'* से जनाया कि उसमें अमूल्य और सुन्दर रत्न लगे हैं। *'रचित'* से बनाव (रचना) सुन्दर कहा। *'चारु'* से कितनी सुन्दर है यह बताया। और, *'रतिपति निज हाथ सँवारे'* से बनानेवाले कारीगरकी सुन्दरता जनायी।

दो०—सुचि सुबिचित्र सुभोगमय सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनि दीप जहँ सब बिधि सकल सुपास॥ ९०॥

अर्थ—जो पवित्र है, अति विचित्र है, सुन्दर भोगमय (उत्तम-उत्तम भोगोंके पदार्थोंसे भरा हुआ) है, फूल और (इत्र गुलाब, केवड़ा आदि) सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित है अर्थात् जहाँ इनकी सुगन्ध फैली हुई है, जहाँ सुन्दर मणिमय पलंग और सुन्दर मणिमय दीपक हैं (इत्यादि) जहाँ सब प्रकारकी सुविधा है॥ ९०॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—*'सुचि'* का भाव कि बहुत लोगोंके घर सुन्दर बने होते हैं पर पवित्र नहीं होते; जैसे यवनों और अंग्रेजोंके, और यह पवित्र है। *'बिचित्र'* क्योंकि रंग-बिरंगके अनेक मणियोंका ही बना है तथा जिसमें चित्रकारी भी है। *'सुभोगमय'* अर्थात् वहाँ सब सिद्धियाँ रहती हैं जो श्रीसीतारामजीकी सेवा किया करती हैं, यथा—*'तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें।'* (१०३। ६) इसीसे यह स्थान सुभोगमय है। पुनः, (ख) शुचि हैं अर्थात् स्नानके लिये वहाँ सब तीर्थोंका जल रखा है। स्नानके बाद भोजन चाहिये, अतः वह सब भोगके सुन्दर पदार्थोंसे भरा हुआ है। भोजनके बाद फूल-माला, इत्र आदि सुगन्ध चाहिये, यह सब वहाँ है। इसके बाद विश्रामके लिये पलंग चाहिये सो वहाँ सुन्दर मणियोंका पलंग है। रातमें दीपक चाहिये सो वहाँ मणिके दीपक हैं, जिसमें कालिख, दुर्गन्ध और गर्मी नहीं है, न तेल-बत्तीका काम, न बुझनेका डर। और भी जो-जो पदार्थ आरामके चाहिये वे सब हैं।

बिबिध बसन उपधान तुराई। छीरफेन मृदु बिसद सुहाई॥ १॥
तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं। निज छबि रति मनोज मदु हरहीं॥ २॥
ते सियरामु साथरी सोए। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोए॥ ३॥

शब्दार्थ—**उपधान** (सं०)=वह जिसपर कोई वस्तु रखी जाय; सहारेकी चीज तकिया। *तुराई* (सं०) तूल=रूई। तूलिका=(गद्दा)=रूईका गुलगुला बिछौना, तोशक। **छीरफेन** (क्षीरफेन)=दूधके फेनके समान। फेन=महीन-महीन बुलबुलोंका वह गठा हुआ समूह जो पानी या और किसी द्रवपूर्ण पदार्थके खूब हिलने आदिसे ऊपर दिखायी पड़ता है; झाग।

अर्थ—जहाँ (ओढ़ने-बिछानेके) अनेकों वस्त्र, तकिये, तोशक हैं जो दूधके फेनके समान कोमल, उज्ज्वल और सुन्दर हैं॥ १॥ वहाँ श्रीसीतारामजी रातमें सोया करते और अपनी छबिसे रति और कामदेवके गर्वको हरण करते थे॥ २॥ वही श्रीसीतारामजी थके हुए और बिना वस्त्रके साथरीपर सो रहे हैं (ऐसी दशामें) वे देखे नहीं जाते। अर्थात् इस दशामें सोते हुए देख बड़ा दुःख लगता है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ऊपर पलंगतक वर्णन कर आये, अब पलंगपरका सामान कहते हैं। दूधके फेनके समान अर्थात् सब शुक्ल हैं; क्योंकि भगवान् शुक्ल-वस्त्र धारण करते हैं, यथा—**'शुक्लाम्बरधरं विष्णुम्।'** [*'क्षीरफेन'*—इस उपमाके समान मृदुत्वके लिये अन्य उपमा ही न मिलेगी। इससे निर्मलता, परम शुभ्रता

और शुचिता भी सूचित की गयी। क्षीरसागरके फेनके समान मृदु ऐसा भी अर्थ लेना उचित होगा। (प० प० प्र०) (ख)—*'तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं'*—मिलान कीजिये—*'जटित कनकमनि पलँग डसाए॥ सुभग सुरभि पयफेन समाना। कोमल कलित सुपेती नाना॥ उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्त्रग सुगंध मनिमंदिर माहीं॥ रतनदीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनै जान जेहि जोवा॥ सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेम समेत पलँग पौढ़ाये॥'* (१। ३५६। १—५)] *'रति मनोज मदु हरहीं'* अर्थात् श्रीसीताजी रतिके मदको और श्रीरामजी कामदेवके मदको नष्ट करते हैं। यह रात्रिके विहारका स्थान है इसीसे कामदेवके सँवारनेकी उत्प्रेक्षा की—*'जनु रतिपति निज हाथ सँवारे',* और काम और रतिके ही मदको हरण करना कह रहे हैं; क्योंकि वहाँ (भूपभवनमें) शृङ्गार ही प्रधान है।

टिप्पणी—२ *'ते सियरामु'* अर्थात् जो ऐसे महलमें ऐसे सजे हुए पलंगपर शयन करते थे वे पृथ्वीपर पत्तोंपर सो रहे हैं। *'श्रमित'* का भाव कि ऐसे कोमल बिछौनेपर सोनेवाले, उनको साथरीपर कैसे नींद आ सकती थी? थके हैं इससे सो गये नहीं तो कब सो सकते? थकावटमें निद्रा बहुत आती है, यथा—*'श्रमित भूप निद्रा अति आई।'* (१। १७०। २) पुनः, दूसरा कारण निद्राका यह है कि प्रथम रात्रिके (तमसापर) जगे हुए हैं।

नोट—अ० रा० में उपर्युक्त दोहा और चौपाइयोंसे मिलता हुआ श्लोक यह है—'......**भ्रातः पश्यसि राघवम्।**' (२। ६। १) '**शयानं कुशपत्रौघसंस्तरे सीतया सह। यः शेते स्वर्णपर्यङ्के स्वास्तीर्णे भवनोत्तमे॥**' (२) अर्थात् भाई लक्ष्मण देखते हो, जो रघुनाथजी अपने भव्य भवनके सुन्दर बिछौनेसे युक्त सुवर्णनिर्मित पलंगपर लेटते थे वे ही आज श्रीसीताजीके सहित कुश और पत्तोंकी साथरीपर पड़े हैं।

मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥४॥
जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं॥५॥
पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥६॥
रामचंदु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥७॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधानु सत्य कह लोगू॥८॥

अर्थ—माता, पिता, कुटुम्बी, पुरवासी (प्रजा), सुन्दर शील स्वभाववाले सखा, दास और दासियाँ ये सब जिनकी अपने प्राणोंकी तरह रक्षा करते रहते थे, वे ही रामगुसाईं आज जमीनपर सो रहे हैं॥४-५॥ जिनके पिता जनकमहाराज हैं जिनका प्रभाव जगत्भरमें प्रसिद्ध है और जिनके श्वशुर इन्द्रके सखा और रघुकुलके राजा हैं॥६॥ और जिनके पति श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे ही विदेहकुमारी सीताजी आज पृथ्वीपर सो रही हैं। विधाता किसे उलटा नहीं होता? अर्थात् जब ऐसे महान् प्रभाववालोंको विपरीत होता है तब तो बस हद है॥७॥ श्रीसीताजी और रघुवीर श्रीरामजी क्या वनके योग्य हैं? अर्थात् नहीं। लोगोंने सत्य कहा है कि कर्म मुख्य है॥८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ *'सखा सुसील दास अरु दासी'* इति। सुशीलका भाव कि सखा शठ नहीं हैं और दास-दासी उत्तर देनेवाले नहीं हैं, यथा—'**दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तर-दायकः।**' सुशील न होनेसे सुखदायी नहीं हो सकते। प्राणोंकी तरह रखते हैं इसीसे जान पड़ता है कि बड़े ही सुखदायी हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं'* इति।—रामजी सबको प्राणप्रिय हैं, यथा—*'कोसलपुरबासी नर नारि बृद्ध अरु बाल। प्रानहुते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥'* (१। २०४) अतएव प्राणोंकी तरह उनकी रक्षा करना कहा। यहाँ *'जोगवहिं'* बड़ा उत्तम शब्द है। सेवा करना नहीं कहते; क्योंकि माता-पिता-परिजन-पुरवासीमें बड़े-बड़े लोग हैं, ब्राह्मण भी हैं, उनको सेवक कहना अनुचित है। (ख) *'गोसाईं'* अर्थात् जो पृथ्वीके साईं हैं वे पृथ्वीपर सो रहे हैं।

टिप्पणी—३—श्रीसीतारामजीको जमीनपर सोते हुए देख निषादराजको बड़ा दुःख हुआ है—*'सोवत*

प्रभुहिं निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥'—इसीसे वह बारंबार उनके भूमिपर सोनेका दुःख कह रहा है, यथा—*'तेहि सियरामु साथरी सोये'*, *'महि सोवत तेइ राम गोसाँईं'*, *'रामचंदु पति सो बैदेही। महि सोवत बिधि बाम न केही॥'*

प० प० प्र०—बालकाण्डके उपर्युक्त उद्धरणमें शयनागारका किञ्चित् वर्णन है। वहाँ *'सुभग सुरभिपयफेन समाना'* कहा है वैसे ही यहाँ *'छीरफेनु मृदु बिसद सुहाई'* है। वहाँ *'कहत न बनै जान जेहि जोवा'* पर उपसंहार किया है। यहाँ निषादराजने उस शयनागार और शय्याका कुछ विस्तृत वर्णन किया है। इससे अनुमान होता है कि इन्होंने शयनागार देखा होगा, अन्यथा ये उसका इतना विस्तृत वर्णन कर नहीं सकते। (यह भी सिद्ध करता है कि ये पूर्वसे ही श्रीरामजीके सखा हैं) यह अनुमान *'सदा रहेहु पुर आवत जाता'* उत्तरकाण्डके इन वचनोंसे भी पुष्ट होता है।

नोट—१ *'पिता जनक······रघुराऊ'* इति। मिलान कीजिये—*'पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित पदपीठा॥······' 'आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसनु देई॥ ससुर एतादृस अवध निवासू।'* (२। ९८। ४-५)। वा, ऐसे प्रभावशाली कि पृथ्वीसे कन्या उपजायी, शुकदेवजीको ज्ञान सिखाया।

नोट—२ *'रामचंदु पति'* —चदि धातु आह्लाद अर्थका वाचक है, अतएव *'रामचंद'* का भाव यह कि ये ब्रह्माण्डभरको आह्लाद देनेवाले हैं। (पु० रा० कु०) रकार अग्निबीज है और अग्नि तापयुक्त होता है, इसीसे रकाररहित *'रामचंद'* शब्दका प्रयोग करके बताया कि श्रीसीताजीको परम प्रसन्नता, शीतलता और संतोष देनेवाले तथा उनका सब तापदुःख हरनेवाले ऐसे पति हैं तथापि वह वैदेही तपस्वीके समान आज भूमिपर सो रही है। *'बिधि बाम न केही'* यथा—*'बिधि बामकी करनी कठिन······'* (२०१) (प० प० प्र०)

नोट—३ यहाँ पिता, ससुर, पति तीनोंका प्रभाव क्रमसे दिखाया। पिताका प्रभाव 'जग विदित' है, ससुरका प्रभाव 'स्वर्गतक' विदित है और पतिका प्रभाव 'ब्रह्माण्डभरमें' विदित है।

टिप्पणी—४ *'करम प्रधान सत्य कह लोगू'* इति। मीमांसा शास्त्रवाले कर्मको प्रधान कहते हैं। निषादराजने पहले विधिको वाम कहा और अब कर्मको प्रधान कहा है—तात्पर्य यह कि विधिकी वामता कर्मसे होती है—*'कठिन करम गति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'*

नोट—४ भर्तृहरिजीने भी इसी आशयपर यह श्लोक कहा है—'**नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः स्वर्गो दुर्गमनिग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः। इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलिभिर्भग्नो वरैः संगरे तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्॥**' अर्थात् बृहस्पति जिसके गुरु नेता हैं, वज्र जिसका अस्त्र-शस्त्र है, देवता सेना है, स्वर्ग दुर्गम गढ़ है, हरि रक्षक और ऐरावत वाहन, ऐसे पराक्रम और ऐश्वर्यवाला इन्द्र ही जब शत्रुसे हार गया तो बस दैव ही प्रबल है, पौरुष व्यर्थ है।

'सिय रघुबीर कि कानन जोगू' यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान स्वयं ही किया कि कर्मकी प्रबलतासे वन हुआ। कर्मकी प्रबलता किसी-न-किसीद्वारा होती है सो आगे कहते हैं कि **'कैकयनंदिनि'** ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—यहाँ निषादराजको मोह हुआ। उसने नहीं समझा कि सरकारके जन्म, कर्म दिव्य हैं, ये ईश्वर हैं, अपनी इच्छासे शरीर धारण करते हैं। और ऐसी लीला धारण करते हैं, जिसे सुनने-समझनेवाले लोगोंको परमपदकी प्राप्ति होती है, इन बातोंको उसने नहीं समझा। जिस भाँति जीव कर्मवश दुःख-सुखके भागी रहते हैं, उसी भाँति रघुनाथजीको भी कर्मवश समझकर उसे विषाद हुआ। विषाद होनेपर ही अर्जुनको गीताका उपदेश हुआ। पहिले अध्यायका नाम ही 'विषादयोग' है। उसी भाँति निषादराजको साक्षात् भगवान् रामानुज गीताका उपदेश करेंगे।

दो०—कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहि सुखु अवसर दुखु दीन्ह॥९१॥

अर्थ—केकय देशके राजाकी लड़की नीचबुद्धि कैकेयीने कठिन कुटिलता (वा कुटिल प्रतिज्ञा) की। जिसने रघुनन्दन श्रीरामजी और श्रीजानकीजीको सुखके समय दुःख दिया (ऐसा नीच काम किया)॥ ९१॥

नोट—१ कुटिलता करनेमें अवधका सम्बन्ध न दिया। किंतु केकयका सम्बन्ध दिया है। '*कठिन कुटिलपनु*' अर्थात् श्रीरामजीके वनवासकी प्रतिज्ञा की, यह प्रण कठिन है। अर्थात् किसीके टाले न टल सका। और मन्द बुद्धि है इसीसे कुटिलता किया, वन भेजना यह कुटिलता है। (प्र० सं०)

नोट—२ '*कैकयनंदिनि*' अर्थात् केकयकुलको आनन्द देनेवाली कहनेका भाव कि कन्याको चाहिये कि वह उभयकुलानन्ददायिनी हो, पर कैकेयीने भरतके लिये राज्याभिषेक माँगकर केवल अपने पिताके कुलको आनन्द दिया। 'रघुनन्दन' का भाव कि जो सम्पूर्ण रघुकुलको आनन्द देनेवाले हैं और जो कैकेयीको सदा-सर्वदा आनन्द देते रहे तथा आगे भी देंगे उन्हींको इसने दुःख दिया। इससे जनाया कि कैकेयी कृतघ्न है। '*सुखु अवसर*' दुःख देनेका भाव कि सुखके अवसरमें जो दुःख होता है वह अत्यन्त असह्य और हृदयविदारक होता है। (प० प० प्र०)

नोट—३ अ० रा० में कुछ मिलता हुआ श्लोक यह है—'**कैकेयी रामदुःखस्य कारणं विधिना कृता। मन्थराबुद्धिमास्थाय कैकेयी पापमाचरत्**॥' (२।६।३) अर्थात् विधाताने श्रीरामजीके इस दुःखका कारण कैकेयीको बना दिया। मन्थराकी बुद्धिपर विश्वास करके कैकेयीने यह बड़ा पाप कर्म किया।—मानसके निषादराज मन्थरावाली बात ही नहीं जानते और जान ही कैसे सकते थे? मन्थराकी बात तो श्रीभरतजीके आगमनपर खुली—'*भै मंथरा सहाय बिचारी।*' (१६०। १) अभी उसे कोई नहीं जानता।

भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥१॥
भयउ बिषादु निषादहि भारी। राम सीय महि सयन निहारी॥२॥
बोले लषन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥३॥

अर्थ—वह सूर्यकुलरूपी वृक्षके लिये कुल्हाड़ी हुई। उस दुर्बुद्धिने सारे संसारको दुःखी किया॥१॥ श्रीसीतारामचन्द्रजीको जमीनपर सोते हुए देखकर निषादको भारी दुःख हुआ॥२॥ तब श्रीलक्ष्मणजी ज्ञान-वैराग्य और भक्ति-रसमें सनी हुई मीठी कोमल वाणी बोले॥३॥

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—१ राजा दशरथजीने मना किया था कि '*जनि दिनकर कुल होसि कुठारी*', सो उसने न माना, सत्य ही '*भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी।*' प्रथम कहा कि 'रघुनंदन जानकी' को दुःख दिया फिर कहा कि रघुकुलभरको दुःख दिया है। रघुकुलको फूला-फला वृक्ष कहा अर्थात् इसके आश्रयसे विश्वभरको सुख था। उसको काट डाला इसीसे सारे संसारको दुःख हुआ। क्यों ऐसा किया? '*कुमति*' के कारण। पहले रघुनन्दन जानकीको, फिर कुलको, तब विश्वको अर्थात् क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक लोगोंको दुःख देना कहा।

टिप्पणी—२ '*भयउ बिषादु निषादहि भारी*' इति। पहले हृदयमें विषाद हुआ, यथा—'*भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू*'; अब विषादकी बातें कहते-कहते विषाद भारी हो गया। 'निषादको भारी विषाद' हुआ इसका भाव यह है कि '**निषादो जीवहिंसकः**', ऐसेको जब ऐसा भारी दुःख हुआ तब औरोंको आप स्वयं समझ लें कि कितना दुःख हुआ होगा।

टिप्पणी—३ '*बोले लषन मधुर मृदु बानी*' इति। निषादकी बातोंका खण्डन करके उसे समझाना है; अतएव मधुर मृदु वचन बोले जिसमें उसको दुःख न हो। पुनः मधुर मृदु धीमे-धीमे जिसमें श्रीरामजी जग न पड़ें। पुनः निषादके सम्बन्धमें कहा है कि '*बचन सप्रेम लषन सन कहई*' अतएव ये भी मधुर मृदु वाणी बोले। पुनः, जिसमें उपदेश उसके मनमें बैठ जावे इससे मधुर मृदु वाणीसे बोले। (☞ नीच निषादको 'भ्राता' सम्बोधन देकर मृदुताको हदतक पहुँचा दिया।)

नोट—श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं। वे एक मुमुक्षुमें तत्त्वत्रय ज्ञानका अभाव देखकर उसे बहुत सरल और मधुर शब्दोंमें प्रथम ज्ञान, फिर वैराग्य और तत्पश्चात् भक्तिरससानी वाणी बोलकर शोकापनोदनपूर्वक परमार्थनिष्ठ बना रहे हैं। (श्रीकौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्यजी)

(श्रीलक्ष्मणगीतान्तर्गत)
ज्ञान, वैराग्य और भक्तियोग

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥ ४॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ ५॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥ ६॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥ ७॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥ ८॥

अर्थ—कोई किसीको दुःख-सुखका देनेवाला नहीं है। हे भाई! सब अपने ही किये हुए कर्मका भोग करते हैं॥ ४॥ संयोग, वियोग, भोग, बुरा एवं भला-बुरा भोग*, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ अर्थात् उदासीन जो न मित्र ही हैं न शत्रु, ये सब भ्रमके फंदे हैं॥ ५॥ जन्म-मरण जहाँतक संसारका जाल (पसारा) है (अर्थात् जहाँतक प्राकृत व्यवहार फैला हुआ है), सम्पत्ति (धन, ऐश्वर्य), विपत्ति, कर्म और काल॥ ६॥ पृथ्वी, घर, धन, नगर, कुटुम्ब, स्वर्ग और नरक जहाँतक व्यवहार देखने-सुनने और मनमें विचारनेमें आता है इन सबोंका मूल मोह है, परमार्थ नहीं है॥ ७-८॥

वि० त्रि०—निषादराजने पहिले कहा कि *'कर्म प्रधान सत्य कह लोगू'* और फिर कैकेयीजीको दोष देने लग गया कि उन्होंने रघुनन्दन-जानकीको सुखके अवसरपर दुःख दिया, ये दोनों बातें एक-दूसरेके विरुद्ध हैं। मोह होनेपर लोग इसी प्रकारसे सोचा करते हैं, स्थिर नहीं कर सकते कि वस्तुस्थिति क्या है? इसीपर लक्ष्मणजी कहते हैं कि जो तुम भगवती कैकेयीको दुःखदाता समझ रहे हो, यह भूल है। कोई जीव किसी सुख-दुःखका दाता नहीं हो सकता, अपने कर्म ही सुख-दुःखके देनेवाले हैं, वे ही सुख-दुःखरूपी फल प्रदान किया करते हैं, यथा—*'करै जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई॥'*

पुरुषोत्तम रामकुमारजी—निषादराजने कहा था—*'कैकयनंदिनि····सुख अवसर दुख दीन्ह'*, उसका उत्तर लक्ष्मणजीने दिया कि कोई किसीको दुःख-सुख नहीं देता, यह सब अपने कर्मका भोग है। यह उत्तर कर्मवादी अर्थात् मीमांसाके मतसे है, जिसमें कर्म ही प्रधान माना गया है, योग-वियोग इत्यादि उसके फलका भोग है। इस उत्तरसे मीमांसाके मतकी रक्षा की।

नोट—१ अ० रा० में *'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता'* की जोड़में **'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।'** (२।६।५) (अर्थात् सुख-दुःखका दाता कोई और नहीं है), **'कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य वा।'** (२।६।४) (अर्थात् किसीके दुःख अथवा सुखका कारण दूसरा कौन है?) ये श्लोक हैं और *'निजकृत करम भोग सबु भ्राता'* की जोड़में **'सखे शृणु वचो मम।'····'** (४) **'स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः॥'** (५) ये श्लोक हैं। मानसमें 'भ्राता' सम्बोधन है तो वहाँ 'सखा' है। इसके आगे जो अ० रा० में कहा कि **'परो ददातीति कुबुद्धिरेषा। अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥'** (६) अर्थात् कोई अन्य सुख-दुःख देता है यह समझना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ यह वृथा अभिमान है, क्योंकि लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीमें बँधे हुए हैं—यह सब इन दोनों चरणोंका भाव है। इसके आगे कर्त्तव्य बताया है कि प्रारब्धानुसार सुख-दुःख जो कुछ प्राप्त हो उसे भोगते हुए प्रसन्न

* पाँड़ेजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'संयोग-वियोग, भले-बुरेका भोग इत्यादि भ्रमके फंदे हैं। ये फंदे जगमें जन्मसे मरणपर्यन्तका जो जाल है उसमें लगे हुए हैं। और सम्पत्ति-विपत्ति आदि जो सम्पूर्ण कर्म और काल हैं···', जहाँतक आँख-कान और मनकी गति (पहुँच) है सो सब मोहका मूल है। इसका प्रमाण यह है कि 'सपने होइ···'।'

चित्त रहे। यथा—'**सुखं वा यदि वा दुःखं स्वकर्मवशगो नरः। यद्यद्यथागतं तत्तद्भुक्त्वा स्वस्थमना भवेत्॥**' (२।६।८) यह उपदेश इन चरणोंमें है।

नोट—२ प० पु० भूमिखण्डमें राजा ययातिके भी कर्मके सम्बन्धमें ऐसे ही विचार हैं—'उपद्रव, आघातदोष, सर्प और व्याधियाँ ये सभी कर्मसे प्रेरित होकर मनुष्यको प्राप्त होते हैं। आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच बातें जीवके गर्भमें रहते समय ही रच दी जाती हैं।''''मनुष्य जैसा करता है, वैसा भोगता है। उसे अपने किये हुएको ही सदा भोगना पड़ता है। वह अपना ही बनाया हुआ दुःख और अपना ही रचा हुआ सुख भोगता है।''''जैसे बछड़ा हजारों गौओंके बीचमें खड़ा होनेपर भी अपनी माताको पहचानकर उसके पास पहुँच जाता है, उसी प्रकार पूर्व जन्मके किये हुए शुभाशुभ कर्म कर्ताका अनुसरण करते हैं। पहलेका किया हुआ कर्म कर्ताके सोनेपर उसके साथ सोता है, उसके खड़े होनेपर खड़ा होता है और चलनेपर पीछे चलता है।' तात्पर्य कि कर्म छायाकी भाँति कर्ताके साथ लगा रहता है। जैसे छाया और धूप सदा एक-दूसरेसे संबद्ध होते हैं, उसी प्रकार कर्म और कर्ताका भी परस्पर सम्बन्ध है। [अपने किये हुए कर्मोंके अनुकूल ईश्वरकी प्रेरणासे जग अनुकूल वा प्रतिकूल बन जाता है। (कौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्यजी)]

नोट—३ '*निज कृत करम भोग सबु भ्राता*' इसमें '*निजकृत*' शब्द गम्भीर आशयसे भरे हैं। यहाँ लक्ष्मणजी कहते हैं कि सुख-दुःखका प्रधान कारण कर्म है, पर उत्तर-मानस-पुरजन-गीतामें तो कहा है कि '***सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥***' अर्थात् इसके अनुसार तो दुःख-सुख-मूलक (संसारके उच्छेदमें) कर्मगत दोष नहीं है। इस तरह पूर्वापर विरोधका भास हो रहा है, वस्तुतः विरोध नहीं है। विरोधके परिहारके लिये ही यहाँ '***निजकृत***' विशेषण कर्मको दिया गया है अर्थात् अपना किया हुआ कर्म दुःख-सुखका मूलक है। यही बात विनयपत्रिकामें कही गयी है—'***तैं निजकर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं***'। कर्म जड़ है वह नहीं बाँध सकता, हमारा जो अभिमान कर्ममें है वही बन्धनका कारण है—यही '***निजकृत***' का अर्थ है। इसीलिये उत्तरमानस-ज्ञानगीतामें दुःख-सुखात्मक संसारजालमें फँसनेवाले जीव चेतनके लिये बंदर और तोतेका दृष्टान्त दिया है—'***बँधेउ कीर मर्कट की नाईं।***' बंदर और तोतेको घट या पोंगलीने नहीं पकड़ा; वह तो जड़ है, ये ही स्वयं उसे पकड़े हैं। (श्रीजानकीजीवनशरणजी) भगवान्‌ने गीतामें भी यही बात कही है कि 'कर्म सब ओरसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये होते हैं पर मूढ़ात्मा अहंकारसे ऐसा मानता है कि 'मैं करनेवाला हूँ'—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥**' (३। २) और कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय भी बताया है कि सदा यह निश्चय माने कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं; इससे उनमें आसक्ति न होगी। आत्मा प्रभुका शरीर है और उसी अन्तरप्रविष्ट परमात्माके शासन और शक्तिसे बर्तनेवाला है, सब कर्म उस प्रभुके द्वारा ही किये हुए हैं, ऐसा समझकर उन कर्मोंको उन्हींमें समर्पण कर दे। उन कर्मोंको प्रभुकी आराधना मानकर करे, उसके फलोंकी आशा न करे। ऐसा करनेसे कर्मबन्धनसे छूट जायगा—'**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा''''**।' (३।३०) '''''**मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥**' (३१)

अ० दी० च० कार लिखते हैं कि लक्ष्मणजीके कथनका भाव यह है कि कैकेयीके कारण श्रीरामजीको दुःख हुआ यह ठीक नहीं है। यदि कैकेयी या राजाने बुरे कर्म किये हैं तो वे अपने कर्मसे दुःख भोगेंगे, पर इसके लिये रामवनयात्राका कारण उन लोगोंको कहना भूल है।

कर्म दो प्रकारके हैं—एक विधि जिसके करनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है, दूसरा निषेध जो त्याज्य है।

इस कथनमें ध्वनि यह है कि गुहने कैकेयीको दुःख देनेवाली कहकर लक्ष्मणजीको उत्तेजित करना चाहा। जिसमें ये श्रीरामजीको लौटा ले जाकर अपने बलसे अयोध्यापर दखल कर लें; परंतु श्रीलक्ष्मणजीने सारी लीलाओंको श्रीरामजीकी इच्छापर ठहराकर कैकेयीको श्रीरामाज्ञापालन-विधि-कर्मकी करनेवाली निश्चित किया। श्रीरामसेवाकी दात्री समझकर वे कैकेयीके कृतज्ञ हैं—'***तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं।***' इसीसे तो

वनसे लौटनेपर वे *'कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले'* हैं। निषादराजने कैकेयीको जो अविधि (निषेध) कर्मकी करनेवाली ठहराकर कुटिला और मंदमति कहा उसीसे गुहको मोहग्रस्त कहकर श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम करनेका उपदेश दे रहे हैं।

नोट—४ प० प० प्र०—'**प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः**' यह कर्मसिद्धान्त है। इस अर्धालीमें कथित कर्मभोग सिद्धान्तका प्रभाव चित्तपर यथोचित पड़ जानेसे द्वेष, मत्सर, दोषदर्शन, परनिन्दा, तिरस्कार इत्यादि रोग मिट जाते हैं और दुःख सहन करनेकी शक्ति बढ़ जाती है। ☞ऐहिक सुख-दुःख-लाभ तो प्रारब्ध-कर्मानुसार ही मिलता है, पर पारमार्थिक सुखकी प्राप्ति मनुष्य-देहसे प्रयत्न करनेसे ही होती है। इसीसे उत्तरकाण्डमें कहा है कि *'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥'* (७। ४३) इस अर्धालीमें प्रथम कर्मसिद्धान्तरूप ज्ञान कहा।

पु० रा० कु०—१ *'निजकृत करम भोग सब'* यह जो लक्ष्मणजीने कहा है वह सब जीवोंके लिये कहा है, श्रीरामजीके लिये नहीं। जिनके चरित्र सुननेसे जगजाल मिट जाता है उनको कर्मका भोग कहाँ कहा जा सकता है, यथा—*'करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल।'*

वि० त्रि०—*'जोग बियोग''''फंदा'* इति। श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि सुख-दुःखका होना भी व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक नहीं है। असङ्ग आत्माको योग-वियोग कहाँ ? और जब योग-वियोग ही नहीं, तब दुःख-सुखका योग कैसा? और उसके देनेवाले हित,अनहित, मध्यस्थ कहाँसे आ गये, यथा—*'सत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हें बरिआईं। त्यागब गहब उपेक्षणीय अहि हाटक तृनकी नाईं॥'* (विनय०) अतः योग-वियोग, भल-मन्द भोग और शत्रु-मित्र-मध्यस्थका भाव ही भ्रम है। इसीसे लोग बँधे हैं। इसलिये इसे फंदा कहा गया। फंदे जालमें लगे रहते हैं। अतः आगे चलकर उस जालका भी निरूपण करेंगे जिसमें ये फंदे लगे हुए हैं।

प० प० प्र०—(क) *भोग भल मंदा* =भले या बुरे भोग।=सुखात्मक अनुकूल भोग अथवा दुःखात्मक प्रतिकूल भोग। (ख) *'हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा'* इति। सुग्रीवने भी कहा है *'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥'* (४। ७। १८) इस तरह *'भ्रम फंदा'* =माया (कृत)। '**न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः। कारणेन हि जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥**' शत्रु-मित्रादि भेद मनसे कल्पित होनेसे मिथ्या है, भ्रम है। पर जबतक जड़-चेतन-ग्रंथि न छूटेगी तबतक ये भेद सत्यवत् प्रतीत होंगे ही। सभी जीव ईश्वरांश, चेतन, अमल, सहज, सुखराशि और अविनाशी हैं। उनमें भेद नहीं है। भेद मायाकृत है।

श्रीकौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्यजी—योग (अर्थात् इष्ट स्त्री-पुत्र-मित्रादिकी प्राप्ति), वियोग (अर्थात् इष्ट धनादिकी हानि), कभी उत्तम भोग और कभी बुरा भोग, कोई हितैषी है तो कोई शत्रु और कोई उदासीन इत्यादि बाह्य वस्तुओंमें सुख-दुःखकी प्रतीति भ्रमजन्य है; क्योंकि पुण्य तथा पापाधीन चेतनोंका ईश्वर कर्माध्यक्ष है। अतः '**क्षिपामि या ददामि**' (अर्थात् अखण्ड नीच योनिमें डालना तथा बुद्धियोग देकर ऊपर ले जाना) यह कार्य कर्माधीन जीवोंके लिये ईश्वर करता है। अतः वह दोषी नहीं है, क्योंकि कर्म सापेक्ष फल देते हैं।

पु० रा० कु०—२ मीमांसाका मत कहकर फिर ज्ञानियोंका मत कहा कि योग-वियोग आदि सब भ्रमका फंदा है। ये सब भ्रमकृत फंदे हैं जो मनसे उत्पन्न हुए हैं, यथा—*'सत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ए मन कीन्हें बरिआईं। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥'* ज्ञानके देशमें यह जगत् कुछ नहीं है, भ्रममात्र है। अयोध्यावासियोंसे और रामजीसे संयोग था। अब वियोग है इससे प्रथम योग (प्राप्ति) और वियोगको कहा।

टिप्पणी—३ *'जनम मरन जहँ लगि जग जालू'* इति। [मन संस्कारोंका पुंज है। उन संस्कारोंके अनुसार

योग प्राप्त करनेके लिये उसके साथ पाँच इन्द्रियाँ भी लगी हुई हैं। इसीका नाम लिङ्गशरीर है। वही कर्मोंके अनुसार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें और एक लोकसे दूसरे लोकमें आता-जाता है। आत्मा इस शरीरसे सर्वथा पृथक् है। उसका आना-जाना नहीं होता; परंतु जब वह अपनेको लिङ्गशरीर ही समझ लेता है तब उसे भी अपना आना-जाना प्रतीत होने लगता है।"·····मन-ही-मन किसी शरीरमें अभिनिविष्ट होकर उसे पूर्णतया 'मैं' के रूपमें स्वीकार कर लेना ही जीवका जन्म है। किसी भी कारणसे शरीरको सर्वथा भूल जाना ही मृत्यु है। (भा० ११। २२।३८-३९)] जीवको नवीन देहका संयोग होना जन्म है, देहका वियोग होना मृत्यु है। कर्म तीन प्रकारके हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। काल जो क्षण, मुहूर्त, घड़ी आदिके रूपमें बीतता है, यह भी तीन प्रकारका है—भूत, भविष्य, वर्तमान। धर्णि, धाम, धन, पुर और परिवार इस लोकके व्यवहार हैं और स्वर्ग, नरक परलोकके व्यवहार हैं। यहाँतक कर्म-प्रधानताका विकार कहा। सम्पत्ति=घोड़ा, गाड़ी, रथ, हाथी इत्यादि सब सामग्री। धन=द्रव्य।

वि० त्रि०—*'जनमु मरनु·····ब्यवहारू'* इति। वह जाल जिसके फंदेमें सभी संसारी जीव फँसे हैं यही जगत् है, यह जन्मसे लेकर मरणतक फैला हुआ है। '**पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्**।' इसी जालमें फँसा हुआ जीव जन्म-मरणका अनुभव सदा किया करता है। इसमें परमार्थ कुछ भी नहीं, सब व्यावहारिक है। सम्पत्ति और विपत्ति भी कुछ नहीं, सब-के-सब क्षणिक हैं। इनके कारण कर्म और कालका भी निष्क्रिय आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं। अतः धरणी, धाम, पुर, परिवार, यहाँतक कि स्वर्ग और नरकमें भी व्यावहारिक सत्यता है। इनमेंसे कोई टिकाऊ नहीं, सब क्षणभङ्गुर हैं, असत्य हैं, सत्य तो वही है जिसमें देशतः कालतः वस्तुतः व्यभिचार न हो।

'देखिअ सुनि····नाहीं' इति। आँखों देखते हैं कि इस जगत्में कहीं किसी पदार्थमें क्षणमात्रके लिये भी स्थिरता नहीं है। परिवर्तन ही जगत्का रूप है। कहाँ गये पिता-पितामह जिनकी गोदमें स्वर्गीय आनन्दके भोगका अनुभव होता था, कहाँ गये वे मित्र जिनके साथमें सब दुःख भूल जाते थे; कहाँ गये वे महाप्रतापी सम्राट्, जिनके विषयमें सुना जाता है कि अपने धनुषकी कोटिसे पर्वतोंको हटा-हटाकर पृथ्वीको जोतने-बोने लायक बनाया, नगर और ग्राम बसाकर मनुष्योंको समाज बाँधकर रहना सिखलाया? मनमें विचारते हैं, तो भी कोई सत्य हाथ नहीं लगता। किसी वस्तुमें सुख-दुःख स्थायी नहीं है। जो वस्तु गर्मीमें सुखद है, वही जाड़ेमें दुःखद हो जाती है, जो वस्तु एक देशमें जैसा प्रभाव दिखाती है, दूसरे देशमें उसका दूसरा प्रभाव हो जाता है। स्वतः न कोई वस्तु सुखद है न दुःखद है। न किसीमें स्थिरता है, अतः कुछ भी पारमार्थिक सत्य नहीं है। अपना अज्ञान ही इन सबका मूल है। आत्मस्वरूपके ज्ञानसे इनका अभाव प्रत्यक्ष भासता है।

पु० रा० कु०—४ *'मोह मूल परमारथ नाहीं'* इति। अर्थात् इन सबकी (कर्म-विकारोंकी) जड़ मोह (अज्ञान) है। जबतक यह अज्ञान है तभीतक प्रपञ्च है। ज्ञानके उदय होनेपर ये कुछ नहीं हैं। जितने गिनाये गये ये स्वप्न हैं। मोह रात्रि है; रातमें सोनेपर स्वप्न ही दिखायी देते हैं, जागनेपर नहीं; इसीसे कहते हैं कि परमार्थमें ये कुछ नहीं हैं। अथवा, इनसे परमार्थरूप रामजीकी प्राप्ति नहीं है, यह सब विपरीत ज्ञान है।

नोट—५ *'हित अनहित मध्यम····मोह मूल'* की जोड़में अ० रा० में '**सुहृन्मित्रार्युदासीनद्वेष्यमध्यस्थ-बान्धवाः। स्वयमेवाचरन्कर्म तथा तत्र विभाव्यते**॥' (२। ६। ७) यह श्लोक है। अर्थात् यह मनुष्य स्वयं ही पृथक्-पृथक् आचरण करके उसके अनुसार सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, द्वेष्य, मध्यस्थ और बन्धु आदिकी कल्पना कर लेता है। इसलिये विद्वान् लोग यह सब माया है इस भावनासे इष्ट या अनिष्टकी प्राप्तिमें धैर्य रखकर हर्ष या शोक नहीं मानते। '**न हृष्यन्ति न मुह्यन्ति सर्वं मायेति भावनात्**॥' (१५)

श्रीकौसलेन्द्रप्रपन्नजी—*'देखिअ····मोह मूल'* इति। अर्थात् प्रत्यक्ष परिणामी होनेसे प्राकृत जगत् अवस्थान्तरको प्राप्त होता है। स्त्री-पुत्र-धन-धाम स्वर्गादि सभी क्षयिष्णु देखे-सुने गये हैं। स्वयं भी विचारिये तो जितने

कर्मकृतक हैं वे सब अनित्य हैं। यह सब अज्ञानकृत है। क्योंकि अनन्त स्थिर सुखस्वरूप परब्रह्मको छोड़कर अल्प तथा चल जगत्‌के क्षुद्र सुखोंके लिये जो महान् श्रम करते हैं वे कृपण कहलाते हैं। इसीसे वैदिक रहस्योंके विवेचनमें श्रीमहर्षि बादरायणजीने प्रथम सूत्रमें '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' ऐसा कहा। अर्थात् कर्मका फल अल्प और अनित्य जानकर उससे मुख मोड़कर मुमुक्षु उस ध्रुव अकृत अचल ब्रह्मको जाने तथा प्राप्त करे।

'मोह मूल' कहकर जनाया कि अल्प ज्ञानवाले बाह्य अनित्य पाञ्चभौतिक पदार्थोंमें सुख मानकर तदर्थ प्रयत्न करना परमार्थ नहीं है। गीतामें भी कहा है—'**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।**' अर्थात् कभी कार्य जगत् और कभी कारण प्रलयके रूपमें रहनेवाली प्रकृतिको ही मत भज। मुझ सूत्रमें मणिवत् गुँथे हुए जगत्‌को देख, चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको भज।

दो०—सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागे लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥९२॥

शब्दार्थ—**नाक**=आकाश, स्वर्ग। **रंकु**=दरिद्र। **नाकपति**=इन्द्र।

अर्थ—जैसे स्वप्नमें भिखारी राजा हो जाय और स्वर्गका स्वामी इन्द्र कंगाल हो जाय* जागनेपर न कुछ लाभ ही है और न कुछ हानि ही। इसी प्रकार इस जगत्‌के व्यवहारोंको जीमें देखो॥९२॥

पुरुषोत्तम रामकुमार—ऊपर कह आये कि सबका मूल मोह है, अब उसका उदाहरण देते हैं कि ***'सपने होइ भिखारि······।'*** स्वप्न अज्ञान है। यह कहकर तब परमार्थका उदाहरण दिया कि ***'जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ।'*** 'जागना' परमार्थ है अर्थात् ज्ञान है। ***'तिमि प्रपंच'*** अर्थात् जैसे स्वप्न झूठा वैसे ही सब प्रपञ्च झूठा है—'**संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलम्। स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत्॥**' इति। (आत्मबोध)

नोट—१ सबका मूल मोह है, वस्तुतः ये सब कुछ नहीं हैं; इसका प्रमाण देते हैं कि स्वप्नमें भिखारी राजा हो जाय, इन्द्र दरिद्री हो जाय तो भिक्षुक राजा और इन्द्र दरिद्री अपने-अपनेको तभीतक समझते हैं जबतक वे सो रहे हैं, जागनेपर तो इन्द्र इन्द्र ही बना है, दरिद्र दरिद्र ही; न भिखारीको कुछ स्वप्नसे लाभ मिल गया और न इन्द्रकी कुछ हानि हुई, केवल निद्रामात्रमें एकको कुछ हर्ष, दूसरेको दुःख हुआ; पर जागनेपर वे ज्यों-के-त्यों बने मिले। जैसे स्वप्नावस्थाकी ये बातें वस्तुतः झूठी हैं वैसे ही संसारका दुःख-सुख झूठा है। मोहरात्रिमें पड़े हुओंको दुःख होता है, परमार्थचिन्तक दुःखी नहीं होते हैं।

नोट—२ मिलान कीजिये—'**अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते। ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्। स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥**' (भा० ११। २८। १३-१४) अर्थात् जैसे स्वप्नमें अनेकों विपत्तियाँ आती हैं पर वास्तवमें वे हैं नहीं, फिर भी स्वप्न टूटनेतक उनका अस्तित्व नहीं मिटता, वैसे ही जो संसारमें प्रतीत होनेवाले विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उनके जन्म-मृत्युरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती। न होनेपर भी इसकी प्रतीतिका कारण विषय-चिन्तन ही है। जब मनुष्य स्वप्न देखने लगता है, तब नींद टूटनेके पहले उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है; परंतु जब उसकी नींद टूट जाती है, वह जग पड़ता है, तब न तो स्वप्नकी विपत्तियाँ रहती हैं और न उनके कारण होनेवाले मोह आदि विकार। अज्ञानके कारण होनेवाला कष्ट ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है और तब जान पड़ता है कि वास्तवमें वह कष्ट उस समय भी न था।

वि० त्रि०—सपना भी प्रातिभासिक सत्य है, उस कालमें वह सत्य ही प्रतीत होता है, किसीको यह प्रतीति नहीं होती कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, यह सब मिथ्या है। सभी उसको सत्य मानते हैं, सिंहासनपर

* दूसरा अर्थ पूर्वार्धका इस तरह भी हो सकता है कि 'स्वप्नमें राजा भिखारी हो जाता है और दरिद्र इन्द्र हो जाता है।'

पड़ा हुआ राजा सपनेमें अपनेको अति दीन दरिद्रावस्थामें पाता है, उसे नहीं भासता कि उस समय भी वह राजा है, सिंहासनमें ही लेटा हुआ है, उसे अपनी दीनता—दरिद्रता ही सच्ची मालूम पड़ती है। इसी भाँति महादरिद्र सपनेमें देखता है कि मैं इन्द्र हो गया, सब देवता, ऋद्धि-सिद्धि हाथ बाँधे खड़े हैं, वह नहीं अनुभव करता कि उस समय भी वह दरिद्र ही है, पर निद्रा-दोषके हटते ही वह भ्रम जाता रहता है, न राजाकी कोई हानि हुई और न उस दीन—दरिद्रको कोई लाभ हुआ।

लक्ष्मणजी कहते हैं कि यह प्रपञ्च (व्यावहारिक सत्य) सपना ही है। उस सपनेसे यह सपना कुछ अधिक स्थायी है, भेद इतना ही है। वह सपना निद्रादोषसे था, यह बड़ा सपना मायादोषसे है। जिस भाँति निद्रादोषकी निवृत्तिसे वह सपना नहीं रह गया, उसी भाँति मायादोषकी निवृत्तिसे यह सपना (प्रपञ्च) भी नहीं रह जाता।

श्रीजयरामदास 'दीन' जी लिखते हैं कि 'जिस रूपमें हम जगत्को देख रहे हैं वह सत्य नहीं है। इसका रूप राममय है। अतः इस जगत्का नानाकार झूठा है, न कि जगत् ही झूठा है। जगत् तो रामरूप आकारमें सत्य है क्योंकि जब हमको जगत् निज प्रभु—राममय जान पड़ता है तब इसका नानात्व उसी प्रकार गायब हो जाता है जिस प्रकार जागनेपर स्वप्नका भ्रम नष्ट हो जाता है। स्वप्नका भ्रम क्या है—यह ***'सपने होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ'*** इसमें बताया है। अर्थात् कोई राजा अपनेको स्वप्नमें भिक्षुकके रूपमें देखता या जानता है अथवा कोई भिक्षुक अपनेको इन्द्रके रूपमें देखता है। परन्तु स्वप्नमें राजाका भिक्षुक होना तथा भिक्षुकका इन्द्र होना मिथ्या था, न कि संसारमें भिक्षुकका होना और स्वर्गमें इन्द्रका होना। ये दोनों बातें सत्य ही हैं, केवल स्वप्नमें उन व्यक्तियोंका अपने लिये ऐसा परिवर्तन देखना झूठा था। इसी प्रकार जगत्को झूठा न कहकर उसमें जो नानात्व भासता है, उसे ही झूठा कहा गया है। साथ ही जगत् जिस रामका रूप है, उसकी वन्दना की गयी है और नाम-जप (उपासना) की बात भी कही गयी है, जो अद्वैतवादके विरुद्ध है। विशेष ***'झूठेउ सत्य……।'*** (१। ११२। २), ***'जौं सपने सिर काटइ कोई'*** (१। ११८। २) में देखिये।

पं० श्रीकान्तशरणजी—जीवका शुद्ध स्वरूप राज्यके समान है, यथा—***'निष्काम राज विहाय नृप ज्यों स्वप्नकारागृह पर्यो।'*** (वि० १३६) वह भगवान्की शरीररूपता छोड़कर मोहवश देहाभिमानी हुआ, यही निशा हुई और देहसे हुए पूर्वकृत कर्मोंके अभिमानी होनेसे जो फलरूपमें योग-वियोगादिके अनुभव होते हैं, यह स्वप्न देखना है। तीनों तापोंका अनुभव करना रङ्क होना है। पुनः भगवान्का शरीर होनेसे जीव उनके परतन्त्र रङ्कके समान है, वह देहाभिमानी होकर इन्द्रियदेवोंके विषय-भोगके साथ उनका अभिमानी होकर इन्द्रकी नाईं विषय-भोक्ता भी हो गया है।

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहुहि बादि न देइअ दोसू॥ १॥
मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ २॥

अर्थ—ऐसा विचारकर (कि जगत्के दुःख-सुख स्वप्न हैं) क्रोध न कीजिये, किसीको व्यर्थ दोष न दीजिये॥ १॥ सब मोह-रात्रिमें सोनेवाले हैं। सोतेमें अनेक प्रकारके स्वप्न देख पड़ते हैं॥ २॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ निषादराजने कैकेयीको दोष दिया था, इसीसे कहते हैं कि किसीको व्यर्थ दोष न दीजिये। ***'अस बिचारि……'*** का भाव कि जैसा विचार करके तुम दुःखी हो रहे हो, वैसा विचार न करो, वरन् इस प्रकारसे विचार कर देखो, तब तुम्हें स्वयं देख पड़ेगा कि किसीका दोष इसमें नहीं है। अतएव दोष देना व्यर्थ हुआ। रोष न करो, दोष न दो, इसका भाव यह है कि जिसपर लोग रुष्ट होते हैं, उसको दोष देते हैं; इसी आशयसे राजाने कैकेयीसे कहा था कि ***'कहु तजि रोषु राम अपराधू'*** अर्थात् उनमें कोई अपराध नहीं है, क्रोधके कारण तू उनको अपराधी समझती है। (यहाँतक ज्ञान कहा, आगे वैराग्यका स्वरूप कहते हैं।)

वि० त्रि०—जगत्को भी सपनारूप जानो, यथा—***'उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत***

सब सपना॥' विचार तो करो सपनेमेंका शत्रु-मित्र, सपनेमेंका हानि-लाभ तो अपने स्वरूपसे व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सपनेमें तो कोई दूसरा रहता ही नहीं, आप ही अपना शत्रु बन जाता है और आप ही अपना मित्र बन जाता है, और हानि-लाभरूप भी आप ही बन जाता है, फिर दोष किसे दें। सपनेमें जिसे शत्रुरूप देखा था, (क्योंकि उसने हानि की थी) जागनेपर तो उसे न कोई शत्रु मानता है और न उस हानिको हानि मानता है, समझता है कि वह मिथ्या प्रपञ्च था, अत: न तो रोष करना चाहिये और न किसीको दोष देना चाहिये। अत: भगवती कैकेयीको दोष देना सर्वथा असङ्गत है।

टिप्पणी—२ ***'सबु सोवनिहारा'*** का भाव कि मोहरात्रि सबको एक ही है। जागना तीन प्रकारका है—ज्ञान, वैराग्य और भक्ति, सो आगे कहेंगे। ***'सपन अनेक प्रकारा'*** वे ही हैं जिन्हें ऊपर कह आये हैं—***'जोग बियोग भोग भल मंदा'*** से ***'मोह मूल परमारथ नाहीं'*** तक सब स्वप्न है, जैसा कि दोहेमें कहा है—***'सपने होइ भिखारि''''''तिमि प्रपंच जिय जोइ॥'*** ***'मोहनिसा''सपन अनेक प्रकारा।'***—भाव यह कि लोग मोहवश विषयोंमें आसक्त हो जाते हैं, संसारके अनेक गृह-कार्य, हर्ष-शोक, इत्यादि झूठे माया-जालमें फँसे रहते हैं। जो कुछ वे देखते, सुनते, विचारते, करते हैं, यह सब स्वप्नवत् झूठा है।

वि० त्रि०—जिस भाँति सूर्यके न रहनेसे रात होती है, उसी भाँति ज्ञानरूप सूर्यके अभावमें मोहरात्रि होती है। जिस भाँति रातको सब सोते हैं, और सब अनेक प्रकारके स्वप्न देखते हैं। उसी भाँति मोहरात्रिमें सब सो रहे हैं, और जाग्रत्‌रूप अनेक प्रकारका स्वप्न देखते हैं। रात्रिके स्वप्नमें जिस भाँति जाग्रत्‌का भान होता है, सभी स्वप्न देखनेवाले अपनेको जागता हुआ ही मानते हैं, उसी भाँति मोहरात्रिमें सोनेवालोंका यह जागना भी स्वप्न ही है। यह जागना सच्चा जागना नहीं है, क्योंकि मोहनिशाके दूर होनेपर इसका बाध देखा जाता है।

प० प० प्र०—***'सपन अनेक प्रकारा'*** इति। ***'मैं और मोर तोर तैं'*** यही मुख्य स्वप्न हैं। शत्रु-मित्र, गुण-दोष, भला-बुरा, सुख-दु:ख, लाभ-हानि, रङ्क-राजा, ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि-आश्रम; गुरु-शिष्य इत्यादि सब स्वप्न ही हैं। पर जैसे पैरमें लगा हुआ एक काँटा निकालनेको दूसरा नया काँटा लेना ही पड़ता है वैसे ही एक बन्धनकारक स्वप्नका विनाश करनेके लिये गुरु-शिष्य-भावादि दूसरे स्वप्नकी जरूरत पड़ती है।

श्रीकौशलेन्द्रप्रपन्नजी—जीव अज्ञानरूपी रात्रिमें सो रहा है, अनेक स्वप्न देख रहा है। भाव कि जीव अपनेको ईश्वरांश चिन्मय अमल अविनाशी न जानकर अज्ञानसे दु:खी, अनित्य, मरनेवाला समझने लगता है। अविद्यालिङ्गित होकर गुणोंके सेवनसे तन्मयताको प्राप्त हो आध्यात्मादि अवस्थात्रयादिको अपनेमें आरोपित कर नष्टैश्वर्य हो गया। यही मोहनिशामें सोना और स्वप्न देखना है।

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥ ३॥
जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ ४॥

शब्दार्थ—योगी—जो इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेटकर परमात्मामें मन लगाये रहता है, उसीको गीता २। ६९ में संयमी कहा है। यह अर्थ गीताके **'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:।'** (२। ६१), **'तस्यां जागर्ति संयमी।'** (२। ६९) इन उद्धरणोंके अनुसार है। **परमारथी**=परमार्थतत्त्ववेत्ता।=जो 'परम अर्थ' को प्राप्त है। **प्रपंच बियोगी**=मायिक जगत्‌से अलग=मायिक जालसे दु:खी होकर निर्वेदको प्राप्त। संसारके विषयोंसे निर्लिप्त। **प्रपंच**=पञ्चविषयमय सब दृश्य; मायिक जगत्।

अर्थ—इस संसाररूपी रात्रिमें योगी लोग जागते हैं जो परमार्थी हैं और प्रपञ्चसे रहित हैं॥ ३॥ जब (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन) सब विषयोंके विलास (आनन्द, मुग्धता) से वैराग्य हो तब जानना चाहिये कि इस जगत्‌रूपी रात्रिसे जीव जगा॥ ४॥

टिप्पणी—१ ***'सपने होइ भिखारि नृपु'*** इस उपर्युक्त दोहेमें सोना और जागना दोनों बताये कि क्या हैं और अब उनका स्वरूप बताते हैं। ***'मोह निसा सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥'*** यह

सोना है और *'जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥'* यह जागना है। यह सिद्धान्त पातञ्जलिका है, शेषका सम्मत है और कल्पभेदसे शेष भी लक्ष्मण होते हैं।

टिप्पणी—२ *'एहि जग जामिनि'* इति। (क) जगत्के व्यवहारको रात्रि कहा है। जगत् प्रत्यक्ष है, इसीसे प्रत्यक्ष रात्रि दिखाते हैं कि यह जग जामिनि है। *'मोह निसा सबु सोवनिहारा'* कहकर *'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी'* कहनेका भाव कि जिस रात्रिमें सबलोग सोते हैं उस रात्रिमें योगी जागते हैं। (ख) मोह-मूल है तब परमार्थ नहीं है, जब मोहरात्रिसे जागते हैं तब परमार्थी हैं। परमार्थ क्या है सो आगे कहते हैं—*'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'*

टिप्पणी—३ (क) लक्ष्मणजीने ज्ञान, वैराग्य और भक्तियुक्त वचन कहे हैं। इनमेंसे *'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी'* तक, और *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा'* से *'कहि नित नेति'* तक ज्ञानके वचन हैं। *'जानिअ तबहि जीव जग जागा'* ये वैराग्यके हैं। आगे *'होइ बिबेक मोह भ्रम भागा'* से *'मन क्रम बचन रामपद नेहू'* तक और *'भगत भूमि भूसुर'* से *'सिय रघुबीर चरन रत होऊ'* तक भक्तिके वचन हैं। (ख) ऐसा ही गीतामें कहा है—**'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥'** (२।६९)

वि० त्रि०—*'एहि जग·····'*—यही संसाररूपी रात्रि है। उसमें सपना देखनेवाले अपनेको मिथ्या ही जागता हुआ मानते हैं। इसमें सच्चे जागनेवाले योगी लोग हैं, क्योंकि वही पारमार्थिक सत्यका साक्षात्कार करते हैं। इस स्वप्नरूपी प्रपञ्चका उनके लिये सर्वथा बाध हो जाता है। वे व्यावहारिक सत्यको उसी भाँति मिथ्या अनुभव करते हैं जिस भाँति प्रातिभासिक सत्य उनको मिथ्यारूप मालूम होता है। यथा—*'जेहि निसि सकल जीव सूतैं, तब कृपापात्र जन जागैं।'* भाव यह कि जिस ओर योगी लोग जाग रहे हैं उस ओर संसारी सोये हुए हैं। और जिस ओर संसारी लोग जाग रहे हैं उस ओर योगी लोग सो रहे हैं। जैसे जिस समय उल्लूको दिखायी पड़ता है उस समय कौआको नहीं सूझता। और जिस समय कौआको सूझता है उस समय उल्लूको नहीं सूझता। यही गति संसारी लोगों और योगियोंकी है।

प० प० प्र०—*'जागहिं जोगी·····'* इति। जब जीवका ब्रह्मसे तादात्म्य होगा तब वह योगी बनता है। और योगसे ज्ञान होता है। वैराग्यकी पराकाष्ठा और ज्ञान अन्ततोगत्वा एक रूप ही है।

नोट—पूर्व (१।२२।१) में बताया जा चुका है कि सोना और जागना क्या है। देह, स्त्री, पुत्र, धन, धाम, देह सम्बन्ध-मात्रको अपना मानकर उनमें ममत्व करना—आसक्त होना ही सोते रहना है। यथा—*'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।'* (वि० १४०) इन सबोंको नाशवान् जानकर इनका मोह-ममत्व छूटना, विषयोंसे वैराग्य होना, देहाभिमानका छूटना, जगत्को निज प्रभुमय देखने लगना इत्यादि जागना है। यथा—*'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू॥'* (६।५५) *'ममता बस तैं सब भूलि गयउ, भयो भोर महाभय भागहि रे·····'*। (क० ७। ३१)—विशेष (१।२२। १, १। ११२। १-२) में देखिये। जागनेपर जीवको जिज्ञासा होती है। वह परमार्थरूप राम ब्रह्मकी ओर झुकता है, सोचता है कि मैं क्या हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है। तब मोह-भ्रम दूर हो जाता है और परस्वरूपका ज्ञान होने लगता है। मदालसाजीने अपने पुत्रोंको अपने स्वरूपका उपदेश यह दिया था—

'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमाया परिवर्जितोऽसि। संसारनिद्रां त्यज स्वप्नरूपां मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥'

वि० त्रि०—*'जानिअ·····'* इति। अब सच्चे जागे हुएका लक्षण कहते हैं। जबतक चित्तमें विषय-विलासका राग है तबतक मोह-निद्रा बनी हुई है। जब सब विषय-विलाससे विराग हो तब जानिये कि जीव जाग गया। अतः रामानुरागी ही सच्चे जागनेवाले हैं, यथा—*'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि नर बड़भागी॥'* (३२४।८) भगवान् भी कहते हैं कि सभी योगियोंमें वे ही उत्तम हैं जो मेरा भजन करते हैं, यथा—**'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥'** (गीता)

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥ ५॥
सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥ ६॥

अर्थ—विवेक होनेपर मोह-भ्रम भाग जाता है, तब (मोह-भ्रम दूर होनेपर) रघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम होता है॥ ५॥ हे सखा! सबसे उत्कृष्ट परमार्थ यही है कि मन, कर्म और वचनसे श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो॥ ६॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमार—मोह और भ्रम प्रथम कह आये। *'जनम मरन जहँ लगि जग जालू', 'मोहमूल परमारथ नाहीं'* यह मोह और *'हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा'* यह भ्रम। भ्रम विवेकसे दूर होता है, भ्रमके दूर होनेपर भजन होता है, यथा—*'भ्रम तजि भजहु भगत भय हारी।'* वैराग्य होनेपर ज्ञान होता है, यथा—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु',* अतएव प्रथम *'जब सब बिषय बिलास बिरागा'* कहकर तब *'होइ बिबेकु'* कहा।

वि० त्रि०—*'होइ बिबेकु……'* इति। जबतक विषय-विलाससे विराग नहीं होता, तबतक विवेकका उदय नहीं होता, केवल शास्त्रीय ज्ञानसे पूरा काम नहीं चलता, विवेकज ज्ञानसे ही मोहका नाश होता है। पहिले अज्ञान होता है, तब विपरीत ज्ञान होता है। विपरीत ज्ञान ही भ्रम है। विवेकज ज्ञानसे भ्रम और उसके मूल मोहका नाश होता है। भ्रम और मोहके रहते रघुनाथजीके चरणमें अनुराग नहीं होता—'**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥**' (गीता ७। १५) पापी, मोहमें फँसे हुए, जिनका ज्ञान मायासे हरण हो गया है, ऐसे अधम पुरुष मेरी शरणमें नहीं आते। मनसा-वाचा-कर्मणा रामजीके चरणोंमें प्रेम होना ही परम पुरुषार्थ है। क्योंकि मोक्ष-सुख भी बिना हरिभक्तिके ठहर नहीं सकता, यथा—*'जिमि जल थल बिनु रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई॥'* और सगुणोपासक तो मोक्ष चाहते ही नहीं, वे भक्ति ही चाहते हैं।

प० प० प्र०—*'होइ बिबेकु……'* इति। *'सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपदरति रस बेद बखाना॥'* (१। ३७। १४) *'बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥'* (७। १२२। ११) *'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।'* (७। ६१) इत्यादि उदाहरणोंसे मानसका सिद्धान्त यही निश्चित होता है कि आत्मज्ञान बिना रामभक्ति-प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्राप्ति होगी ही नहीं।

नोट—१ प्रथम विषयोंसे वैराग्य होता है। वैराग्य होनेपर विवेक होता है। क्या सत्य है क्या असत्य, मैं क्या हूँ, कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है इत्यादि रीतिसे अर्थपञ्चकका ज्ञान होता है, तब मोह दूर होता है और मोहके नष्ट होनेपर श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अनुराग होता है। *'रघुनाथ'* से जनाया कि सगुण ब्रह्म श्रीरामका उपासक हो जाता है। यही परम परमार्थ है। यह क्रमसे कहा।

टिप्पणी—२ *'परम परमारथ एहू'* का भाव कि ज्ञान-वैराग्य आदि परमार्थ हैं और श्रीरामचरणानुराग परम परमार्थ है; क्योंकि यह ज्ञान-वैराग्यका फल-स्वरूप है जैसा पहले ही कह आये, यथा—*'जानिय तबहि जीव जग जागा। जब……।'* विषय-सुखकी प्राप्ति अर्थ है, ज्ञान-वैराग्य परमार्थ है और रामचरणानुराग परम परमार्थ।

नोट—२ श्रीरामजी ब्रह्म हैं, परमार्थरूप हैं। अतः ब्रह्म रामकी प्राप्ति ही परमार्थकी प्राप्ति है। परमार्थकी प्राप्तिसे दुःख-दोषरूपी दावानलका नाश होता है। *'मन क्रम बचन रामपद नेहू'* (=*'भजन दृढ़ नेम'*=प्रेमाभक्ति) परम परमार्थ है। परमार्थ और परम परमार्थका यह भेद स्मरणमें रखनेसे आगे मानसके वाक्योंका भाव सहज ही समझमें आ जायगा। (प० प० प्र०) मनसे प्रभुका ध्यान करे, वचनसे भगवद्गुणगान करे और शरीरसे अर्चन-वन्दन-कैंकर्य करे; यही मन-क्रम-वचनसे अनुराग करना है। यही परम परमार्थ है अर्थात् इससे भिन्न कोई और परमार्थ नहीं है। (कौ० प्र०)

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥ ७॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥ ८॥

शब्दार्थ—**अबिगत**=अतिशय विगत (भिन्न) अर्थात् मन आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे परे।=जाननेमें न आनेवाले। (मानसाङ्क) **अलख**=जो लखाया या देखा न जा सके। अव्यक्त (१।११६।२) में देखिये।

अर्थ—श्रीरामजी ब्रह्म हैं, परमार्थस्वरूप हैं, अविगत, अलख, आदि और उपमारहित हैं॥ ७॥ वे समस्त (षट्) विकारोंसे रहित और भेदरहित हैं। वेद नित्य ही नेति-नेति कहकर उनका निरूपण करते हैं॥ ८॥

नोट—१ श्रीरामजी ब्रह्म हैं, यथा—'*राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥*' (१।११६।८) यहाँ अविगत, अलख आदि विशेषणोंसे स्पष्ट है कि '*ब्रह्म परमारथ रूपा*' से यहाँ निर्गुण, निराकार ब्रह्मका ही निर्देश किया गया है। (प० प० प्र०) श्रीरामजी ब्रह्म हैं, इस कथनका भाव यह है कि उपर्युक्त जो बातें कही गयीं वे सब तो जीवोंके विषयमें कही गयी हैं। जागे हुए जीवके लिये शत्रु-मित्र, हानि, लाभ सब मिथ्या है। और श्रीरामजी तो ब्रह्म हैं, सुख-दुःखसे परे हैं, यथा—'*बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु रघुबीर सुभाऊ॥*' उनके लिये दुःख-सुख क्या है? इसलिये संक्षेपसे श्रीरामजीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि '*राम ब्रह्म*…।' (वि० त्रि०)

नोट—२ (क) राम ब्रह्म हैं, देशतः, कालतः और वस्तुतः अपरिच्छिन्न हैं, इसलिये परमार्थ सत्य हैं। (वि० त्रि०) पुनः '*परमारथ रूपा*' का भाव कि परमार्थतत्त्वके ज्ञाताओंको कर्म बाधित नहीं होता; यथा—'*कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।*' (७।११२।३) और श्रीरामजी तो परमार्थस्वरूप ही हैं तब उनको कर्म कैसे बाधित हो सकते हैं। (ख) अविगत अर्थात् इन्द्रियोंसे परे हैं। वा, अ+विगत (प्रभाहीन)=जिसकी प्रभा सदा एकरस है। वा, अविगत=जाननेमें न आनेवाले। भाव कि जब इन्द्रियोंसे परे हैं, सदा एकरस हैं तब उनको दुःख-सुखका सम्पर्क कैसे सम्भव है? (पं० रा० कु०) अरूप हैं अतः अविगत अर्थात् अव्यक्त हैं। (ग) मन और वाणीसे परे होनेके कारण अलख हैं। वा, स्थूलदृष्टिसे नहीं देखे जा सकनेसे अलख कहा। (वि० त्रि०) अथवा, ध्यानमें भी इनका दर्शन अगम्य है यह जनाया। (वै०) (घ) सबके 'आदि' होनेसे वा इनका आदि वेदोंको भी अज्ञात होनेसे, 'अनादि' कहा। (वि० त्रि०, वै०) पुनः 'अनादि' विशेषणसे निषादराजके '*बिधि बाम न केही*' तथा '*कर्म प्रधान सत्य कह लोगू*' इत्यादि व्यामोहित वचनोंका निराकरण किया। भाव कि कर्म और कर्मफलके दाता नियामक ब्रह्मा 'सादि' हैं, उनका आदि है और श्रीरामजी आदि-अन्त-रहित हैं, अनादि हैं, तब उनको विधाता कैसे वाम हो सकते हैं, उनको कर्म कैसे बाधक हो सकते हैं? (रा० च० मिश्र) (ङ) अद्वितीय होनेसे, उनके समान दूसरा कोई न होनेसे '*अनूपा*' कहा, यथा—'*जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप*…' (७। १३) '*जेहि समान अतिसय नहिं कोई।*' (३।६।८), '**निरस्त-साम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥**' (भा० २।४।१४) '*निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।*' (७।९२) (च) '*सकल बिकार रहित*' हैं क्योंकि सदा एकरस हैं। (वि० त्रि०) बैजनाथजी लिखते हैं कि—'**परिणामो विकारत्वे प्रकृतेरन्यथाभावे यथा मृद्विकारो घटः।**' इति (अमरविवेक) जैसे सोनेके कुण्डल, मृत्तिकाके घट इत्यादि विकार हैं, वैसे ही आत्मामें प्रकृति, उससे बुद्धि, बुद्धिसे त्रिगुणात्मक अहङ्कार, अहङ्कारसे आकाश इत्यादि जीवमें विकार हैं। श्रीरामजी इन समस्त विकारोंसे रहित हैं। जैसे स्वर्णकुण्डल भीतर-बाहर सब सुवर्ण ही है, वैसे ही श्रीरामजीमें देही-देह-विभाग नहीं है, वे शुद्ध आत्मरूप ही भीतर-बाहर हैं। (वै०) वाल्मीकिजीने भी कहा है—'*चिदानंद मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥*' (छ) '*गत भेदा*' इति। माया त्रिगुणात्मिका है। वही अपने सत्त्व, रज, तम गुणोंसे अनेकों प्रकारकी भेदवृत्तियाँ पैदा कर देती है। इस विकारात्मक सृष्टिके तीन भाग हैं—अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत। ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। इन त्रिविध तत्त्वों वा भेदोंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न हुआ अहङ्कार प्रकृतिका ही एक विकार है। यह अहङ्कारी अज्ञान और सृष्टिकी विविधताका मूल है। श्रीरामजी परमात्मा ज्ञानस्वरूप हैं, इन समस्त भेदोंसे परे हैं। भाव यह कि भेदभाव केवल अज्ञानसे ही होता है और श्रीरामजीमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है।—'**त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे।**' (भा० १०। ८७। २५) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सर्वगत होनेसे भेदरहित हैं।

रा० च० मिश्रजीका मत है कि निषादराजने जो *'केकयनंदिनि मंदमति……'* कहा था, उसका निराकरण *'गत भेदा'* से किया। अर्थात् श्रीरामजी सर्वगत हैं, उन्हींकी इच्छा एवं प्रेरणासे कैकेयीनें वनवास दिया; इसमें कैकेयीका दोष नहीं।

पं० श्रीकान्तशरणजी *'गत भेदा'* का भाव यह लिखते हैं कि 'श्रीरामजी चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म एक ही हैं। इनसे भिन्न और कुछ नहीं है; अर्थात् जीव और प्रकृति ब्रह्मके अपृथक्सिद्धसम्बन्धयुक्त शरीररूप एवं विशेषण हैं, श्रीरामजी स्वयं ब्रह्मरूप विशेष्य हैं। इस भेदराहित्यसे जनाया कि कैकेयीजी भी इनसे भिन्न नहीं हैं। अत: उनके कार्य भी उनकी इच्छा और प्रेरणासे लीलाके लिये हुए।

पुन: भाव कि भेद तीन प्रकारके हैं—स्वगत, स्वजातीय और विजातीय। ये तीनों ब्रह्ममें नहीं हैं। (प्र० सं०)

पाँड़ेजी—निषादने कहा कि राजभवनमें सोनेवाले कुशसाथरीपर सो रहे हैं, इसके उत्तरमें लक्ष्मणजी कहते हैं कि 'रघुनाथजी सब विकारोंसे रहित हैं, भेद-रहित हैं, जब वे राजमन्दिरमें रहे तब यहाँ रहे और जब यहाँ हैं तब राजमन्दिरमें हैं।'

(ज) *'कहि नित नेति……'*—इदमित्थं रूपसे नहीं कहे जा सकनेके कारण वेद नेति-नेति कहकर निरूपण करते हैं। (वि० त्रि०) भा० में वेदोंने भगवान्‌की स्तुतिमें कहा है—**'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा:। ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधना:॥'** (१०। ८७। ४१) अर्थात् आप भी अपना पार नहीं जानते। क्योंकि जब अन्त है ही नहीं; तब कोई जानेगा कैसे? जैसे आकाशमें हवासे धूलके नन्हें-नन्हें कण उड़ते रहते हैं, वैसे ही आपमें कालके वेगसे अपनेसे उत्तरोत्तर दसगुने सात आवरणोंके सहित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ ही घूमते रहते हैं। तब भला आपकी सीमा कैसे मिले? 'हम श्रुतियाँ भी आपके स्वरूपका साक्षात् वर्णन नहीं कर सकतीं, आपके अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते अन्तमें अपना भी निषेध कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता खोकर सफल हो जाती हैं।'—ये अन्तिम शब्द *'कहि नित नेति'* का भावार्थ ही हैं।

दो०—भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल॥ ९३॥

अर्थ—भक्त, पृथ्वी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओंके हितके लिये दयालु रामचन्द्रजी मनुष्य-शरीर धारण करके चरित करते हैं जिनके सुननेसे संसाररूपी बन्धन टूट जाता है॥ ९३॥

नोट—१ (क) पहले श्रीरामजीको ब्रह्म कहा। फिर *'अबिगत अलख……'* आदि ब्रह्मके लक्षण कहे। इसपर शंका होती है कि 'जिसे वेद 'नेति-नेति' कहकर निरूपण करता है, वह मनुष्य कैसे हुआ?' अतएव ब्रह्मके अवतारका हेतु कहते हैं—*'भगत भूमि……कृपाल'*। अर्थात् अज होनेपर भी वह अपनी इच्छासे, अपनी अहैतुकी कृपासे अथवा अपनी प्रकृतिका आश्रयण करके अपनी मायासे शरीर भी धारण करते हैं। यथा—*'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।'* (४। २६), *'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवननिकाय पति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुल मनी॥'* (१।५१) **'मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ।'** (४। मं० १) *'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥'* (१। १४४। ७) उन्होंने भक्त, भूमि, ब्राह्मण, गऊ और देवताओंके हितार्थ मनुष्य-शरीर धारण किया है।—*'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तन माया गुन गोपार॥'* (१।१९२) *'हित लागि'* अर्थात् भक्त, गौ और ब्राह्मणकी रक्षाके लिये, भूमिका भार उतारनेके लिये और देवताओंको बन्दीगृहसे छुड़ाने और स्ववश बसानेके लिये। *'कृपाल'* विशेषणका भाव कि अवतारका कारण कृपा है। यथा—*'तेहि धरि देह चरित कृत नाना। सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥'* (१।१२१४-५) *'तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥'* (१। १२१। ८) इत्यादि। (ख) *'करत चरित……जगजाल'*

इति। इसमें ब्रह्मका अवतार, चरित करना और चरितका माहात्म्य कहा। भाव कि मनुष्यशरीर धारण करके वे ऐसे-ऐसे चरित कर रहे हैं कि जिनको सुननेसे ही मनुष्य जन्म-मरणादि रूपी जगजालसे छूट जाते हैं। *'जगजाल'* वही है जो प्रारम्भमें कह आये, यथा--*'जोग बियोग भोग भल मंदा।""जहँ लगि जगजालू॥'* उस जगजालसे छुटकारा पानेका उपाय यहाँ बताया कि इन चरित्रोंको सुने। *'सुनत मिटहिं जगजाल'* यह चरितका माहात्म्य कहा। भाव कि इस समय तो संसारका कल्याण अवतार लेकर प्रभु कर ही रहे हैं परन्तु भविष्यमें जिनको प्रभुके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं है, वे चरित्र सुनकर ही संसार-सागरसे पार हो जायँगे। मिलान कीजिये—*'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥'* (१। १२२। १), **'अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥'** (भा० १०। ३३। ३७) अर्थात् भगवान् भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही मनुष्यशरीरमें प्रकट होते हैं और मनुष्योंकी-सी लीला करते हैं जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जाते हैं। ☞भक्तोंके लिये यह सुगम नौका बना दिया है। जो भक्त नहीं हैं, वे कभी इस सुगम उपायको ग्रहण ही कब करने लगे? इसीसे *'भगत भव तरहीं'* कहा है।

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥ १॥

अर्थ—हे सखा! ऐसा समझकर मोहको छोड़ श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम करो॥ १॥

नोट—१ *'समुझि अस'* इति। (क) *'अस'* अर्थात् जैसा ऊपर *'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता'* से *'करत चरित""'* तक कह आये। न तो कैकेयीजीने श्रीसीतारामजीको दुःख दिया और न श्रीरामजी जीवोंके समान कर्मपरतन्त्र हैं। वे तो अविगत, अलख, अनादि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हैं जो भक्तों आदिके हितार्थ अवतार लेकर चरित करते हैं जिन्हें सुन-सुनकर जीव भव पार हों। (मा० सं०) पुनः, भाव कि लक्ष्मणजी कहते हैं कि हे सखे! जैसा तुम समझते रहे, वह समझना मोहयुक्त था। इसलिये जैसा मैं कह रहा हूँ, वैसा श्रीरामजीको समझो। मोहको छोड़ दो। भाव यह कि मोह छोड़नेसे छूटता है, और लगाये रहनेसे लगा रहता है। सियरघुबीरको महामायाविशिष्ट ब्रह्म समझो। *'सिय रघुबीर कि कानन जोगू'* इस भ्रमको छोड़ो, और सर्वेश्वर समझकर उनके चरणोंमें प्रेम करो। माहात्म्य-ज्ञान विस्मृतिपूर्वक प्रेम, लौकिक प्रेम हो जाता है। (वि० त्रि०) (ख) *'परिहरि मोहू'*—मोह छोड़नेको अर्थात् मोहनिशासे जागनेको कहते हैं। मोह छोड़ो और श्रीसियरघुबीरके चरणोंमें अनुरक्त हो, इस कथनका तात्पर्य यह है कि बिना मोह दूर हुए रामचरणमें अनुराग नहीं होता, यथा—*'होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुबीर चरन अनुरागा॥'* *'मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।'* (७। ६१) निषादराजके मोहका उपक्रम *'सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥'* (९०। ५) से हुआ और उसका उपसंहार *'भयउ बिषादु निषादहि भारी। रामसीय महि सयन निहारी॥'* (९२। २) पर हुआ। चक्रवर्ती राजाके पुत्र और योगीश्वर जनकराजकी कन्या और घरका सुख तथा वनमें पृथ्वीपर कुशादिपर शयन समझकर उनमें परम प्रेम होनेके कारण दुःख हुआ, इसीसे कैकेयीजीको बुरा-भला कहा। श्रीकान्तशरणजीका मत है कि जैसे अर्जुनका बान्धव-स्नेह ही मोहरूप कहा गया है और अन्तमें **'नष्टो मोहः""।'** (गीता १८। ७३) से उसका निवृत्त होना कहा गया, वैसे ही यहाँ 'प्रेमवश' शब्दका भाव मोह है, क्योंकि निषादराजने श्रीरामजीको प्राकृत नरकी तरह कर्मवश मानकर उनके दुःखमें सौहार्दसे दुःख माना है। यह उसका बान्धवस्नेह ही मोह कहा गया है।

नोट—२ लक्ष्मणजीने मोहरात्रिसे जागनेके तीन उपाय बताये हैं—वैराग्य, ज्ञान और भक्ति। *'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥'* (९३। ४) यह वैराग्यसे जागना कहा। *'होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा',* यहाँ ज्ञानसे जागना कहा। मोह रात्रि है, मोहका नाश होना जागना है। और *'भगत भूमि""सखा समुझि अस परिहरि मोहू'* यह भक्तिसे जागना कहा। यहाँ उपासनाकी रीतिसे जागने और उपासना करनेको कहा है। *'सिय रघुबीर चरन रत'* होना उपासना है।

नोट—३ पंजाबीजी—गुसाईंजीने यहाँ पहले ज्ञान, फिर वैराग्य तब भक्ति कहलाकर यह दिखाया कि ज्ञान-वैराग्य भक्तिके साधन हैं और उसके लिये बहुत आवश्यक हैं। ज्ञान-वैराग्यका फल रघुपति-भक्ति

है—*'सबकर फल हरिभगति सुहाई'।* पुनः, इस क्रमका भाव यह भी है कि वे निष्पक्षपात हैं। जहाँ जैसा प्रसङ्ग आता है वैसा कह देते हैं उनकी समझमें ज्ञानहीन भक्ति और भक्तिहीन ज्ञान दोनों व्यर्थ हैं।

☞इस लक्ष्मण-गीताका निष्कर्ष यह है कि एक तो निषादराजने मोहवश कैकेयीजीको दोष दिया कि उसीने सुखके अवसर श्रीसीतारामजीको दुःख दिया, दूसरे श्रीरामजानकीको कर्म-परतन्त्र समझा। श्रीलक्ष्मणजीने उसीकी बात *(कर्म प्रधान सत्य कह लोगू)* का अनुवाद करते हुए कर्मकी प्रधानतासे पहले कैकेयीको निर्दोष ठहराया, यह कहकर कि *'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥'* पर अब इस सिद्धान्तके प्रतिपादनसे यह शङ्का होती है कि श्रीरामजानकीजी भी अपने कर्मानुसार दुःख भोग रहे हैं। इसपर वे उसे ज्ञानका उपदेश करते हैं कि सुख-दुःख, योग-वियोग इत्यादि सब अज्ञानसे होते हैं; वस्तुतः ज्ञान-देशमें ये कुछ नहीं हैं और उसको *'सपने होइ भिखारि नृप……'* से पुष्ट करते हैं। अर्थात् जैसे कोई भिक्षुक स्वप्न देखे कि मैं राजा हो गया और इन्द्र स्वप्न देखे कि मैं कंगाल हो गया तो एकको सुख और दूसरेको दुःख होता है पर कितनी देरतक? केवल तभीतक जबतक वे सो रहे हैं; जागनेपर न सुख ही रहता है न दुःख, दोनोंको स्पष्ट समझ पड़ने लगता है कि यह सुख वा दुःख तो स्वप्न था, हमें व्यर्थ कष्ट हुआ। वैसे ही इस जगत्के सब व्यवहार स्वप्नवत् हैं, मोहवश सत्य प्रतीत होते हैं। जब यह ज्ञान होता है और संसारसे वैराग्य होता है तब रघुनाथजीका वास्तविक स्वरूप जान पड़ता है और उनके चरणोंमें प्रेम होता है। श्रीरघुनाथजी ब्रह्म शुद्ध सच्चिदानन्दमयकंद अनादि इत्यादि हैं, वे जीव नहीं हैं, उन्हें कर्म बाधित नहीं कर सकता, न उन्हें कोई दुःख-सुख दे सकता है, वे तो अपनी इच्छासे भक्तोंके लिये नरनाट्य करते हैं, पृथ्वीका भार उतारते हैं। इस नरनाट्यमें कर्म भासता है पर वे कर्मके अधीन नहीं हैं।

इति श्रीलक्ष्मणगीता समाप्ता।

कहत रामगुन भा भिनुसारा। जागे जग मंगल सुखदारा*॥ २॥
सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बट छीर मगावा॥ ३॥
अनुज सहित सिर जटा बनाए। देखि सुमंत्र नयन जल छाए॥ ४॥

शब्दार्थ—**भिनुसारा**=प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त, यथा—*'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे॥' 'उठे लखन निसि बिगत सुनि अरुन सिखा धुनि कान', 'पिछले पहर भूप नित जागा।'* दारा=दातार, देनेवाले=स्त्री। **सुखदारा**=सुख देनेवाले। आह्लादिनी शक्ति जिनकी दारा है। **जटा**—बहुत-से बाल एकमें उलझनेसे जटा कहलाती हैं जैसी तपस्वी साधुओंके होती हैं।

अर्थ—श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन करते-करते सबेरा हो गया। जगत्के मङ्गल करनेवाले और सुखके देनेवाले श्रीरामजी जागे॥ २॥ सब शौचके कृत्योंको करके शुचि और सुजान श्रीरामचन्द्रजीने स्नान किया और बरगदका दूध मँगाया॥ ३॥ (दूधसे) भाईसमेत सिरपर जटाएँ बनायीं। यह देखकर सुमन्त्रजीके नेत्रोंमें जल भर आया॥ ४॥

नोट—१ *'कहत रामगुन भा भिनुसारा'* इति। भाव कि—(क) रात्रि श्रीरामगुण-गानमें दोनोंको एक क्षणके समान बीत गयी। अरुणोदय हो गया तब जाना कि रात बीत गयी। (प० प० प्र०) (ख) श्रीराम-

* वंदनपाठकजीकी प्रतिमें 'मंगलदातारा' पाठ है, पर पं० रामगुलाम द्विवेदीकी गुटका और राजापुर एवम् काशिराज और भागवतदासजीकी प्रतियोंमें 'सुखदारा' पाठ है। पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ 'दातारा' शब्दके मध्यम अक्षर 'ता' का लोप हो गया। दाराको 'दा-दाने' धातुसे निष्पन्न दारुसे बनाया हुआ मान लें तो भी अर्थ ठीक रहता है; क्योंकि 'दारु' का अर्थ दानशील, देनेवाला भी है। बाबा हरिहरप्रसादजी अर्थ करते हैं कि—'जिनकी सुखरूपा दारा हैं वे जगत्के मङ्गल करनेवाले श्रीरामजी जागे'। श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी भी यह अर्थ करते हैं अर्थात् 'सुखरूपा (आह्लादिनी शक्ति) जिनकी दारा हैं वे श्रीरामजी जागे।'

गुणगानसे निषादराजकी मोहनिशा दूर हुई और विज्ञानरूपी सबेरा हो गया। (पु० रा० कु०) गीताओंमें श्रोताओंने अन्तमें कृतज्ञता प्रकट की है। यथा—*'भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥'*(३।१७।१) *'सुनत सुधा सम बचन रामके। गहे सबनि पद कृपा धामके॥'* (७।४७।१) *'सुनि प्रभु बचन बिभीषन हरषि गहे पद कंज।'* (६। ७९) परंतु यहाँ कृतज्ञता नहीं प्रकट की गयी? इसका समाधान इस अर्धालीसे कर दिया गया है। अर्थात् श्रीलक्ष्मणजीने इस प्रकार जो प्रभुके गुणोंका वर्णन आरम्भ किया तो इसी वर्णनमें रात बीत गयी। *'जल सीकर महि रज गनि जाईं। रघुपति गुन नहिं बरनि सिराईं॥'* श्रोता-वक्ता उसीमें मग्न हो गये। किसीको सुधि नहीं कि सबेरा हो गया। इधर सुखरूपा (आह्लादिनी शक्ति) दारा है जिसकी, ऐसे प्रभु जाग पड़े। लक्ष्मणजी तुरंत उठकर सेवामें लग गये। इसलिये शिष्यको कृतकृत्यताप्रकाशका अवसर न मिला। (वि० त्रि०)

नोट—२ ☞इस (श्रीरामचरितमानस) ग्रन्थमें अनेक गीताएँ आयी हैं। जहाँ-जहाँ आध्यात्मिक संशयकी निवृत्तिके लिये उपदेश दिया जाता है और उस उपदेशसे मोह वा संशयकी निवृत्ति हुई है वहाँ वह प्रसंग 'गीता' कहा जाता है। इस प्रकार उमा-शम्भु-संवाद (कैलास-प्रकरण) को 'शिवगीता' और सखीद्वारा श्रीसुनयनाजीके संशय-निवृत्ति प्रसंगको 'सखीगीता' तथा भुशुण्डीजीद्वारा गरुड़जीके मोह और संशयोंकी निवृत्तिके प्रसंगको भुशुण्डीगीता वा गरुड़गीता कह सकते हैं।

☞पूर्वाचार्योंने मुख्य पाँच गीताएँ मानी हैं। उन्होंने पाँच प्रसंगोंको 'गीता' नाम दिया है। उस रीतिसे सबसे प्रथम 'लक्ष्मणगीता' है जो यहाँ जगत्‌के जीवोंके आचार्य श्रीलक्ष्मणजीने निषादराजके प्रति कही है। निषादराजने दो बातें कही थीं। एक यह कि कैकेयीने श्रीरामजीको सुखके अवसर दुःख दिया। दूसरे यह कि सब जीवोंके समान श्रीजानकीजी और रघुनाथजीके विषयमें भी कर्मको प्रधान कहा, यथा—*'सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥'* इन्हीं दोनोंका खण्डन इस गीतामें किया गया है। अन्य चार गीताएँ काण्डक्रमके अनुसार ये हैं—(१) अरण्यकाण्ड-(तृतीय सोपान) में श्रीलक्ष्मणजीने प्रश्न किया है—*'कहहु ग्यान बिराग अरु माया।····मोह भ्रम जाइ।'* (३। १४) और रघुनाथजीने उसका उत्तर जो दिया है वह 'श्रीरामगीता' है। (२)—फिर लंकाकाण्डमें जब विभीषणजीको मोह हुआ कि 'रावण रथपर सवार है और श्रीरामजी पैदल हैं तब ये उस वीरको कैसे जीत सकेंगे? इस संदेहकी भगवान् रामचन्द्रजीने अपने उपदेशसे निवृत्ति की। ६। ७९ देखिये। यह श्रीरामोक्ति विभीषणजीके प्रति 'भगवद्‌गीता वा विभीषणगीता' है। (३) उत्तरकाण्डमें दो गीताएँ हैं। एक तो 'पुरजनगीता' जो श्रीरामजीने अवधवासियोंको उपदेश किया है। दो० ४३ (१)—४७ (८) देखिये। और दूसरी ज्ञानगीता जो भुशुण्डिजीने गरुड़जीके प्रश्नपर कही है। ज्ञानगीताके साथ-ही-साथ भक्तिका माहात्म्य बहुत दिखाया है। इसे कोई-कोई भक्तिगीता कहते हैं। ७। ११५। ८ से दो० १२० तक।

प्रत्येक गीताके अन्तमें उसका फल कहा गया है। उत्तरकाण्डसे क्रमशः इसे लिखा जाता है—(क) 'ज्ञानगीता' की फलश्रुति, *'जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परमपद लहई।'* (७।११९।२) 'भक्तिगीता' का फल तो प्रकरणभरमें है। (ख) 'पुरजनगीता' का फल, *'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप।····'* (७। ४७) (ग) 'विभीषणगीता' का फल—*'महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।'* (६।७९) (घ) 'रामगीता' का फल *'तिन्हके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम।'* (३।१६) तथा यहाँ 'लक्ष्मणगीता' में भी फलश्रुति होना चाहिये। इस गीताके श्रवणका फल स्पष्ट और गीताओंका-सा यहाँ नहीं दिया है। इसका फल *'कहत रामगुन भा भिनुसारा'* में लक्षित जान पड़ता है; इस तरह कि उपदेश अंतमें यह दिया कि *'सिय रघुबीर चरन रत होहू'*; इसे फल भी कह सकते हैं। इस उपदेशका फल यह हुआ कि राम-गुण कहते-कहते *'भिनुसारा'* हो गया अर्थात् गुहकी अविद्या-रात्रि मिटी और विज्ञानरूपी सबेरा हो गया। और दूसरा अर्थ है ही।

नोट—३ (क) *'जागे मंगल····'* का भाव कि ईश्वरके जागनेसे जगत्‌का मङ्गल कल्याण और सुख

है। (पु० रा० कु०) साधारण अर्थ तो यह है कि मङ्गल और सुखके देनेवाले प्रभु रात व्यतीत होनेपर उठे। (ख) *'जग मंगल सुखदारा'* का भाव कि अबतक तो केवल अवध और मिथिलावासियोंको मंगल और सुखके देनेवाले थे, पर अब जगत्मात्रका मङ्गल करने और उसके निवासियोंको सुख देने चले हैं। अपने अनेक प्यारे भक्तोंको वनमें सुख देंगे, ऋषियोंको अभय करेंगे और रावण आदिका वध करके देवताओंको मंगल और सुख देंगे। यथा—*'कुंभकरन हन्यो रन राम दल्यो दसकंधर कंधर तोरे।'''देव निसान बजावत गावत सावँत गो मन भावत भौरे।'* (क० ६। ५७) *'मारे रन रातिचर रावन सकुल दल, 'अनुकूल देव मुनि फूल बरषतु हैं। नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि पुलक सरीर हिये हेतु हरषतु हैं॥'* (क० ६। ५८) *'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं।'* (गी० ७। १३) इत्यादि। (मुं० रोशनलाल) पुनः भाव कि जगके मंगलदाता हैं; अतएव जगत्को शिक्षा देते हैं, पिताकी आज्ञा जबरदस्त है; उसका पालन निस्संकोच होकर करना चाहिये। देखो जिन जुल्फोंमें अतरतेल-फुलेल लगता था, जिनका कैसा शृङ्गार किया जाता था, उनको पिताकी आज्ञासे एकमें मिला जटा बनाकर उन्होंने पूर्ण उदासी वेष बनाया—यह गृहस्थको शिक्षा है। और तपस्वियोंको शिक्षा देते हैं कि तुमलोगोंको बालोंमें अतर-तेल-फुलेल आदि न लगाना चाहिये, बालोंका शृङ्गार दूर रहा, उनको झाड़े भी नहीं, जब यह अनुचित है तो भूषण-वस्त्र-सवारी तो निश्चय ही दूषण हैं।—(शीला)

नोट—४ *'कहत रामगुन भा भिनुसारा।''''नहावा'* से मिलता हुआ श्लोक यह है—**'गुहलक्ष्मणयोरेवं भाषतोर्विमलं नभः। बभूव रामः सलिलं स्पृष्ट्वा प्रातः समाहितः॥'** (२। ६। १६) अर्थात् गुह और लक्ष्मणके इस प्रकार बातचीत करते-करते आकाशमें उजाला हो गया। तब श्रीरामचन्द्रजीने सावधानतापूर्वक आचमन कर प्रात:क्रिया की।

टिप्पणी—१ *'सकल सौच करि''''* इति। [(क) *'सकल सौच'*—मल बारह कहे गये हैं। इसीसे *'सकल'* शब्द दिया। विशेष *'सकल शौच करि जाइ नहाए।'* (१। २२७। १) भाग ३ (क) में देखिये] (ख) *'राम नहावा'* इति। जनकपुरमें श्रीरामजीने शहरके बाहर जाकर नदीमें स्नान किया था, यथा—*'सकल सौच करि जाइ नहाए'* और यहाँ तो गङ्गातटपर ही टिके हुए हैं, इसीसे यहाँ जाकर नहाना नहीं कहते। (ख) *'सुचि'* इति। शौच कार्योंको करके स्नान किया, इस कथनसे पाया जाता है कि जब स्नान किया तब पवित्र हुए, पहले अशुच थे; इस भ्रमके निवारणार्थ यहाँ 'शुचि' विशेषण देकर जनाया कि वे तो सहज ही पावन हैं, लोक और वेदकी मर्यादाकी रक्षाके लिये ऐसे आचरण करते हैं, वे तो *'तीरथ अमित कोटि सम पावन।'* (७। ९२। २) है। मिलान कीजिये—*'भे पुनीत पातक तम तरनी। जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला॥ सुद्ध सो भयउ साधु संमत अस। तीरथ आवाहन सुरसरि जस॥'* (२४८। १—३) *'सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू। सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥'* (८७) (ग) *'सुजान बट छीर मँगावा'* इति।—यहाँ सुशीलता देखिये। रामचन्द्रजी सुमन्त्रजीको पिताके समान समझते-मानते हैं; इसीसे मुखपर कहते सकुचते हैं कि हम न लौटेंगे; आप लौट जायँ। अतएव बड़का दूध मँगाकर उनके सामने ही मुनियोंकी-सी जटाएँ बना लीं, जिसमें यह देखकर कि अब तो इन्होंने पूर्ण तपस्वी वेष धारण कर लिया, वे लौटानेका हठ न करें और यहींसे फिर जायँ और घर जाकर कह दें कि हमने जटाएँ धारण कर लीं; इससे कैकेयीजी प्रसन्न होंगी। वाल्मीकीयमें रामजीने सुमन्त्रजीसे कहा है कि मैं तुम्हें इससे लौटाता हूँ कि जिसमें माता कैकेयीको मेरे वनगमनका विश्वास हो जाय, वे संतुष्ट हो जायँ और उनको पितापर मिथ्यावादकी शङ्का न रह जाय—**'नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी। कैकयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः॥'** (६१) **'विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि।'** (सर्ग ५२)] देखिये सौतेली और वह भी सारे नगरको दुःख देनेवाली माताका भी कैसा आदर-सम्मान है! अतएव *'सुजान'* विशेषण दिया। (घ) *'बटछीर मँगावा'* से जान पड़ता है कि गङ्गातटपर वटका वृक्ष न था, नहीं तो रातको उसीके नीचे विश्राम करते जैसा वे

प्रायः करते रहे हैं, यथा—'*घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं।*' (११५।३) '*देखि निकट बटु सीतल पानी। तहँ बसि……।*' (१२४। ३-४), '*बट छाया बेदिका बनाई।*' (२३७।८) '*पुनि प्रभु पंचवटींकृत बासा।*' (७। ६६) इत्यादि।

टिप्पणी २ (क)—'*अनुज सहित सिर जटा बनाए*' इति। श्रीरामचन्द्रजीने माता-पिताकी भक्ति और उनकी आज्ञाका पालन किया—'*तापस बेस बिसेष उदासी*', अतएव जटाएँ बनायीं। लक्ष्मणजीने क्यों जटाएँ धारण कीं? अपने भाईकी भक्तिसे, नहीं तो उनके लिये न तो बनबासकी आज्ञा थी न उदासी वेष धारण करनेकी। (ख) '*देखि सुमंत्र नयन जल छाए*' इति। सुमन्त्रजी समझ गये कि बस अब ये न लौटेंगे, रामचन्द्रजीने मुनिवेष (कौपीन-कमण्डलु आदि धारण करके) तो कैकेयीके सामने ही बना लिया था, यथा—'*तुरित राम मुनिबेष बनाई*', केवल जटाएँ बनाना बाकी था सो अब बनाकर मुनिवेषकी पूर्ति की। इसीसे मन्त्रीको अत्यन्त दुःख हुआ जिससे आँखोंमें आँसू भर आये। (पुनः भाव कि कहाँ तो श्रीरघुनाथजीका तिलक और उनके सिरपर मुकुट देखनेको थे, कहाँ आज जटाएँ और बनवासका निश्चय देख रहे हैं '*का सुनाइ बिधि काह देखावा*', यह समझकर नेत्रोंमें जल भर आया। रा० प्र०)

नोट—५ वाल्मी० रा० में गङ्गातटपर नाव आ जानेपर प्रथम सुमन्त्रको लौटनेकी आज्ञा दी गयी है। तब गुहसे यह कहा कि अब मुझे मनुष्यवाले वनमें नहीं रहना चाहिये किंतु आश्रममें रहकर उसके निर्दिष्ट विधिका पालन करना चाहिये, अतएव अब मैं जटा धारण आदि करता हूँ, तुम बड़का दूध ले आओ। गुह दूध ले आया।—यह '*बटछीर मँगावा*' का भाव हुआ। किससे मँगाया यह स्पष्ट हो गया। '**जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय। तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत्॥**' (५२।६८)

अ० रा० वाले कल्पमें निषादराजके यहाँ पहुँचनेपर और उसके मिलनेपर उसी दिन जटाएँ धारण की हैं। उसके पश्चात् सोनेके लिये साथरी बनायी गयी है—'**वटक्षीरं समानाय्य जटामुकुटमादरात्। बबन्ध लक्ष्मणे नाथ सहितो रघुनन्दनः॥**' (२। ५। ७०) '……**आस्तृतं कुशपर्णाद्यैः शयनं लक्ष्मणेन हि॥**' (७१)

'*अनुज सहित सिर जटा बनाए*' से जनाया कि श्रीरघुनाथजीने अपने हाथसे लक्ष्मणजीके सिरपर जटाएँ बनायीं। यथा—'**लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः।**' (वाल्मी० २।५२।६९)

हृदयँ दाहु अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना॥५॥
नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथु जाहु राम कें साथा॥६॥
बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥७॥
लषनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥८॥

अर्थ—हृदयमें बड़ी जलन है, मुख अत्यन्त मलिन (द्युतिहीन, उदास) है। हाथ जोड़कर वह अत्यन्त दीन (आर्त, दुःखसे भरे और विनयपूर्वक) वचन बोला॥५॥ हे नाथ! कौसलेश महाराजने ऐसा कहा था कि रथ ले जाकर रामजीके साथ जाओ॥६॥ वन दिखाकर, गङ्गास्नान कराकर शीघ्र ही दोनों भाइयोंको लौटा लाना॥७॥ सब सन्देह और संकोचको दूर करके लक्ष्मण-राम-सीताको लौटा लाना॥८॥

टिप्पणी पुरुषोत्तम रामकुमार—१ श्रीसुमन्त्रजी मन-तन-वचन तीनोंसे दुःखी हैं। '*हृदय दाह*' मनका, '*बदन मलीना*' तनका और '*बचन दीन*' वचनका दुःख है। अर्थात् वचनसे दुःखकी बात कही है। '*अति*' का भाव कि हृदयमें दाह और मुखपर मलिनता तो पहिलेसे ही थी, पर अब जटा धारण करते देखकर दाह और मलिनता बहुत बढ़ गयी है। तन-मन-वचन तीनोंमें अत्यन्त दुःख है; अतएव तीनोंके साथ '*अति*' शब्द दिया—अति दाह, अति मलिन, अति दीन।

टिप्पणी—२ (क) '*कोसलनाथ*' इति। कोसलो अयोध्या। अयोध्याके नाथ हैं, अतएव उसकी कुशलके लिये राजाने ऐसा कहा कि लौटा लाना, क्योंकि बिना श्रीरामजीके उसकी कुशल नहीं। यही बात आगे मन्त्रीने कही है—'*तात कृपा करि कीजिय सोई। जाते अवध अनाथ न होई॥*' (ख) '*लै रथु जाहु रामके*

साथा' इति। आज्ञा सुनानेमें भाव यह है कि राजाकी आज्ञा प्रबल है, माननीय है। पहले भी आज्ञा सुनायी थी तब पिताकी आज्ञा मानकर ही श्रीरामजी रथपर चढ़े थे। यथा—***'तब सुमंत्र नृप बचन सुनाए। करि बिनती रथ रामु चढ़ाए॥'*** (८३।१) अतएव फिर वचन सुनाते हैं, जिनमें लौटानेकी आज्ञा है; इस विचारसे कि जैसे रथपर चढ़नेकी आज्ञा मानी वैसे ही इसे भी मान लेंगे।

टिप्पणी—३ ***'बन देखाइ सुरसरि·····'*** इति। (क) वनवासकी आज्ञा है और कैकेयीजीसे प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं—***'जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥'*** (४२।२) अतः वनको जाना मुख्य है। इसीसे प्रथम ***'बन देखाइ'*** कहा तब ***'सुरसरि अन्हवाई'***। ***'सुरसरि अन्हवाई'*** से सूचित किया कि राजाकी यह भी आज्ञा थी। (ख) वन दिखाकर गङ्गा-स्नान करानेकी आज्ञासे सूचित किया कि गङ्गाके इसी पारका वन जो गङ्गाके निकट है उसीको दिखानेकी आज्ञा है, पार उतारनेकी आज्ञा नहीं है। (ग) यहाँ कहते हैं ***'आनेहु फेरि बेगि',*** पर कितनी जल्द, यह यहाँ नहीं कहा। राजाने कहा था कि ***'रथ चढ़ाइ देखराइ बन फिरेहु गए दिन चारि'।*** १४ वर्षकी अपेक्षा ४ दिन बहुत जल्द ही कहलायेंगे।

नोट—१ ***'आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥·····लषन राम सिय आनेहु फेरी'*** इति। रा० प्र० का मत है कि 'प्रथम दोनों भाइयोंको फेर लानेको कहा; शोकातुर होनेसे श्रीजानकीजीको भूल गये थे। तुरत ही स्मरण हो आनेपर तीनोंको फेर लानेको कहा। अथवा, फेर लाना अत्यावश्यक है, अतएव ***'आनेहु फेरी'*** दो बार कहा। अथवा व्याकुलताके कारण दो बार कहा। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि ***'आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई'*** इसका अर्थ ही सीधे-सीधे यही है कि उनके फिरनेसे सीताजी साथमें फिर ही आवेंगी। फिर भी ***'लषन राम सिय आनेहु फेरी'*** का कुछ अर्थ होता है। इसमें श्रीरामलक्ष्मणजीके न फिरनेपर भी श्रीसीताजीका फेर लाना ध्वनित है।

नोट—२ ***'संसय सकल सँकोच निबेरी'*** इति। भाव यह है कि यदि रामजी संशय करें कि हम धर्म कैसे छोड़ें और संकोच करें कि हम प्रतिज्ञा करके घरसे निकले हैं अब कैसे लौटें तो उनके संशय और संकोचको दूर करना। और तुम भी संशय-संकोच न करना कि श्रीरामजी धर्मिष्ठ हैं, वे वचन मानकर वन आये हैं अब न लौटेंगे, हम इनके लौटनेको न कहें। पुनः श्रीरामजीका संकोच न करना, उनसे अवश्य लौटनेको कहना—***'संसय सकल सँकोच'*** में ये सब भाव हैं, अपना और रामजी दोनोंके संशय-संकोचका निवारण अभिप्रेत है, इसीसे ***'सकल'*** दोनोंका विशेषण है। ***निबेरी***=दूर करके। छोड़कर, यथा—***'कुलवंत निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥'*** (७।१०१) (पु० रा० कु०) (ख)—सम्भव है कि रामजी संशय करें कि पिताजीकी किस आज्ञाका पालन करें, चौदह वर्षवाली आज्ञाका पालन करें कि चार दिनवाली आज्ञाका। इसपर चक्रवर्तीजी कहते हैं कि तुम संशय दूर कर देना कि नहीं, दूसरी आज्ञाका पालन करो' ऐसी ही चक्रवर्तीजीकी इच्छा है। यदि रामजी लौटनेमें संकोच करें कि 'मुनिवेष करके १४ वर्षके लिये घरसे चले अब बीचमें कैसे लौटें' इसपर चक्रवर्तीजीने कहा कि तुम इस संकोचको भी दूर कर देना कि आप अपनी इच्छासे तो वनमें पधारे नहीं हैं, पिताकी आज्ञासे आये हैं। पिताने स्वयं अवधिमें संकोच करके चार दिनका कर दिया तब उसके माननेमें आपको कौन-सा संकोच है। अतः ***'संसय सकल सँकोच निबेरी'*** कहा। (वि० त्रि०)

दो०—नृप अस कहेउ गोसाइँ जस कहइ करौं बलि सोइ।
करि बिनती पायन्ह परेउ दीन्ह बाल जिमि रोइ॥ ९४॥

अर्थ—राजाने ऐसा कहा है, अब जैसा गुसाईं आप कहें मैं वैसा ही करूँ, आपकी बलिहारी हूँ। विनती करके वह पैरोंपर गिर पड़ा और बालकोंकी तरह रो दिया अर्थात् असमर्थ होकर ऊँचे स्वरसे रोने लगा॥ ९४॥

टिप्पणी—१ (क) ***'नाथ कहेउ अस कोसलनाथा'*** से ***'नृप अस कहेउ'*** तक राजाका संदेसा कहा।

(ख) *'नृप'*=नृ (मनुष्य)+प (पालक) अर्थात् मनुष्योंके पालनकर्त्ताके ये वचन हैं, प्रजाकी रक्षाके निमित्त ये वचन उन्होंने कहे हैं, बिना रामजीके लौटे प्रजा मर जायगी, यह सोचकर ऐसा कहा है; अतएव *'नृप'* कहा।

टिप्पणी—२ *'गोसाइँ जस कहइ'*—भाव कि रामजीका सङ्कोची स्वभाव है, कदाचित् वे चुप हो रहें तो मैं फिर पूछ नहीं सकता और राजा मुझसे रामजीका संदेसा पूछेंगे तब मैं क्या कहूँगा; इसीसे उत्तर मिलनेकी प्रार्थना करते हैं—आप लौट चलेंगे या संदेसा कहेंगे।

टिप्पणी—३ विनती करके पैरोंपर गिर पड़नेका कारण यह है कि बड़े लोगोंपर जोर इसी तरह पहुँचता है। [श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि मन्त्रीको राजाज्ञा सुना देना ही यथेष्ट था, पैरपर गिरकर विनती करने और रोनेकी आवश्यकता क्या थी? इस प्रश्नका यही उत्तर है कि मन्त्री भलीभाँति जानता है कि इस दूसरी आज्ञाका कुछ मूल्य नहीं है। इसको रामजी प्रिय-प्रेम-प्रमाद मानेंगे, आज्ञा नहीं मानेंगे, अतः करुणाकर रामजीकी करुणाको रो-गाकर जगाना चाहता है। (वि० त्रि०)]

नोट—वाल्मीकीयमें राजाका संदेसा नहीं है। वहाँ सुमन्त्रजीके पूछनेपर कि मुझे क्या आज्ञा है, श्रीरामजीने उन्हें लौट जानेको कहा। तब उन्होंने अपने पदके योग्य विनती की और श्रीरामजीको जाते देख बड़ी देरतक रोते रहे। यथा—**'इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तथा। दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम्॥'** (२।५२।२०) तब श्रीरामजीने पुनः समझाया है।

तात कृपा करि कीजिअ सोई। जातें अवध अनाथ न होई॥ १॥
मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरममतु* तुम्ह सबु सोधा॥ २॥

अर्थ—हे तात! कृपा करके वही कीजिये जिससे अवध अनाथ न हो॥ १॥ श्रीरामजीने मन्त्रीको उठाकर अच्छी तरह समझाया—हे तात! तुमने धर्मके सब सिद्धान्तोंको छानबीन करके समझा है॥ २॥

टिप्पणी—१ पुरुषोत्तम रामकुमारजी—*'कृपा करि कीजिअ सोई।......'* इति। अवधवासियोंपर कृपा करो। अपने ऊपर या राजापर कृपा करनेको नहीं कहते, क्योंकि कृपा छोटेपर की जाती है; अतएव प्रजापर कृपा करनेको कहते हैं। कृपाकी प्रार्थना इसलिये करते हैं कि धर्म समझकर तो लौट नहीं सकते हैं, पर अवधवासियोंके प्राणोंकी रक्षाके लिये दया करके लौट सकते हैं। [पुनः अनाथ न होनेका भाव कि तुम्हारे बिना महाराज न जीवित रहेंगे और भरत भी राज्य न ग्रहण करेंगे। (रा० प्र०) इसमें वाल्मी० (२।५२) के **'वयं खलु हता राम यत्त्वया ह्युपवञ्चिताः। कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः॥'** (१९) का भाव भी है कि आपके द्वारा त्यक्त होनेके कारण हमलोग तो मारे ही गये, अब हमलोग पापिन कैकेयीके अधीन रहेंगे और दुःख उठावेंगे—यह भी भाव *'अनाथ'* होनेमें है]।

टिप्पणी—२ *'मंत्रिहि राम उठाइ....'* इति। (क) मन्त्री पिताके समान है, इसीसे चरणोंसे उठाकर प्रबोध किया, जैसे माताका प्रबोध किया था—*'बरस चारि दस बिपिन बसि'*, जैसे प्रजाको समझाया था—*'कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहु बिधि राम लोग समुझाए॥ किए धरम उपदेस घनेरे।'* वैसे ही इनको भी समझाया।

टिप्पणी—३ *'तात धरम मतु तुम्ह सब सोधा'* अर्थात् तुम सब जानते हो। भाव कि तुमको धर्म कहकर समझानेका कुछ विशेष प्रयोजन नहीं है। आगे धर्ममार्गपर चलनेवाले राजाओंका उदाहरण देते हैं।

सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥ ३॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥ ४॥
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥ ५॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तजें तिहूँ पुर अपजसु छावा॥ ६॥

* 'मतु' पाठ राजापुर (ला० सीताराम) की पोथीमें है और काशिराजकी प्रतिमें। किसी-किसीने 'मगु' पाठ दिया है।

अर्थ—(राजर्षि) श्रीशिविजी, (महर्षि) श्रीदधीचिजी और राजा हरिश्चन्द्रजीने धर्मके लिये करोड़ों (अनेक) कष्ट सहे हैं॥ ३॥ सुजान राजर्षि रन्तिदेवजी और दैत्यराज बलिने अनेकों कष्ट उठाकर भी धर्मको धारण किया॥ ४॥ सत्यके समान दूसरा धर्म नहीं है, शास्त्र, वेद और पुराणोंमें ऐसा कहा है॥ ५॥ वही धर्म मैंने सहजहीमें पाया है, उसके छोड़नेसे तीनों लोकोंमें अपकीर्ति फैलेगी॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'भूप सुजाना'* अर्थात् ये दोनों राजा धर्मकी गतिके जाननेमें बड़े प्रवीण थे; इसीसे अनेक सङ्कट सहकर धर्मकी रक्षा करते रहे। रन्तिदेवको ४८ दिनपर भोजन मिला सो भी उन्होंने अतिथिको दे दिया, अपने प्राणोंकी परवा न की।

श्रीरन्तिदेवजी—ये पुरुके वंशमें या यों कहें कि दुष्यन्तके पुत्र श्रीभरतजीके वंशमें राजा संकृतिके पुत्र हुए। ये धन कमानेके लिये कोई विशेष उद्योग नहीं करते थे। प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाता, वही स्वीकार कर लेते। प्राप्त वस्तु भी रखते न थे। जो कुछ भी मिलता दूसरोंको दे डालते थे। वे न तो अपने पास कुछ रखते और न किसी वस्तुसे ममता ही करते। उनके हृदयमें बड़ा धैर्य था। रन्तिदेवजीने अकेले ही नहीं किंतु अपनी स्त्री और पुत्रके सहित आकाशवृत्ति ग्रहण कर रखी थी अर्थात् जीविकाके लिये कर्मचेष्टासे शून्य रह जो अकस्मात् अनाश्रित आ जावे उसीको लेते थे। इससे उनके शरीर क्षीण हो गये थे। एक बार तो उनको लगातार अड़तालीस दिन ऐसे बीत गये कि उन्हें जलतक पीनेको न मिला। स्त्री-पुत्रसहित वे अवसन्न पड़े थे। उनचासवें दिन प्रातःकाल ही उन्हें खीर, मोहनभोग (हलवा) और जल मिला। भोजन करनेको ही थे कि एक ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आ गया। राजाने उस अन्नमेंसे उसे आदर और श्रद्धापूर्वक खिला दिया। उसके जानेपर जो बचा उसे तीनोंमें बाँटकर खानेको हुए कि एक शूद्र अतिथि आ गया। राजाने उस अन्नमेंसे उसको भी संतुष्ट किया। फिर एक नीच कुत्ते लिये हुए आया और राजासे कहा कि मैं और कुत्ते भूखे हैं, भोजन दीजिये। राजाने शेष अन्न इनको खिला दिया। राजा रन्तिदेव सबमें भगवान्हीको देखते थे—**'हरिं सर्वत्र सम्पश्यन्।'** (भा० ९। २१। ६) उन्होंने कुत्तों और कुत्तोंके स्वामीके रूपमें आये हुओंको भी भोजन देकर उसी भावसे नमस्कार किया—**'तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः॥'** (श्लो० ९) अब केवल इतना जल बच रहा था जिससे एक व्यक्तिकी प्यास बुझ सके। जल पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल अकस्मात् पहुँच गया और आर्त्त हो पीनेका जल माँगा। आपको दया आ गयी। उसकी दीनतासे भरी हुई वाणी सुनकर उसके दुःखको देखकर वे दुःखी हो गये। उन्होंने उसको वह जल पिला दिया और उनके मुखसे यह अमृतमयी वाणी निकली—**'न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा। आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥'** (१२) अर्थात् 'मैं भगवान्से अष्टसिद्धियोंसे युक्त परमगति नहीं चाहता। मैं मोक्ष भी नहीं चाहता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे किसी भी प्राणीको दुःख न हो।' चाण्डालकी प्राणरक्षा करनेमें उनको बड़ा सुख हो रहा था, वे सोचते थे कि इसको यह जल देनेसे मेरी भूख, प्यास, भ्रान्ति, चक्कर आना, दीनता, क्लान्ति, शोक, विषाद और मोह आदि सब ही निवृत्त हो गये। यह सोचते हुए मृतप्राय राजाने ज्यों ही वह जल उसे दिया त्यों ही त्रिदेव, जिन्होंने ही इन स्वरूपोंसे उनकी परीक्षा ली थी, प्रकट हो गये। तीनों प्राणियोंने उनके सामने ही शरीर छोड़ दिया। (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ९अ० २१) श्रीप्रियादासजीका यह कवित्त इनके विषयमें है—कवित्त ९४—

> **अहो! रंतिदेव नृप संत दुष्कंत बंस अतिहि प्रशंस सो अकासवृत्ति लई है।**
> **भूखे को न देखि सकै, आवै सो उठाइ देत, नेति नहिं करैं, भूखे देह छीन भई है।**
> **चालीस और आठ दिन पीछे जल अन्न आयो, दियो बिप्र शूद्र नीच श्वान यह नई है।**
> **हरिको निहारै उन माँझ, तब आए प्रभु, भाए, जग दुःख जिते भोगौं, भक्ति छई है।**

टिप्पणी—२—*'धरम न दूसर सत्य समाना'* का भाव कि सम्भव है कि मन्त्री कहें कि श्रीशिबिजी,

श्रीदधीचिजी और श्रीहरिश्चन्द्रजी आदिका कठिन धर्म था, किसीका सर्वस्व गया, किसीका प्राण गया; उसके लिये तुम क्यों इतना कष्ट उठानेको हो? अतएव श्रीरामजी कहते हैं कि सत्यके समान दूसरा धर्म नहीं है और उसपर वेद-शास्त्र-पुराणोंका प्रमाण देते है। [कैकेयीजीने भी राजासे कहा है कि **'आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।'** (२।१४।३) **'सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।'** (२।१४।७) अर्थात् धर्मरहस्यके ज्ञाता लोग कहते हैं कि सत्य ही परम धर्म है। एकाक्षर ब्रह्म भी सत्य ही है। सत्यहीमें समस्त धर्म प्रतिष्ठित (वर्तमान) हैं। जाबालि ऋषिको उत्तर देते हुए श्रीरामचन्द्रजीने उनके विरोधमें वेदानुसार वचन कहे, ऐसा वाल्मीकिजी लिखते हैं। उनमेंसे कुछ वचन ये हैं—**'धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।' 'सत्यमेवेश्वरो……सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।' दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च। वेदाः सत्यप्रतिष्ठानाः……।'** (२।१०९।१२—१४) अर्थात् लोकमें धर्मकी पूर्ति सत्यसे ही होती है, अतएव सत्य सबका मूल कहा जाता है। सत्य ईश्वर ही है। सत्य सबका मूल है, उससे बढ़कर श्रेष्ठ पद नहीं है। दान, यज्ञ, होम, तप, वेद सबोंका मूल सत्य ही है। इत्यादि। ***'सत्यमूल सब सुकृत सुहाए।'*** (२८।६) भी देखिये।]

टिप्पणी—३ ***'मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा।'……'*** इति। पिताके वचनको सत्य करना यह सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है—***'पितु आयसु सब धरमक टीका',*** वही धर्म मुझे सुलभतासे मिल गया। भाव कि राजा लोगोंने साधारण धर्मके पालन करनेमें अपने प्राणतक दे दिये और मुझको तो विशेष धर्मकी प्राप्तिमें भी कुछ क्लेश न मिला। ***'पावा'*** से जनाया कि यह दुर्लभ धर्म हमको भाग्यसे सुलभ हो गया (केवल वनमें जाकर थोड़े दिन रहनेसे ही काम चल जायगा, सत्यप्रतिज्ञका यश प्राप्त होगा) और उसके न करनेसे अपयश होगा कि श्रीरामजी धर्म धारण करनेमें बड़े कादर थे, सुलभ धर्म भी न धारण कर सके। ***'तिहुँ पुर अपजसु छावा'***—तीनों लोकोंमें निन्दा होगी; क्योंकि पिताके वचनका त्याग पाप है और पापका फल अपयश है—***'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'***(७।११२।७) उत्तम लोग अपवादको डरते हैं—**'लोकापवादाद्भयम्'**। अपयशसे मर जाना ही भला है—***'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥' 'मरन नीक तेहि जीवन चाही।'***

संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥ ७॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दियें उतरु फिरि पातक लहऊँ॥ ८॥

अर्थ—प्रतिष्ठित पुरुषोंको अपयश मिलनेसे करोड़ों मरणके समान कठिन दाह होता है॥ ७॥ हे तात! तुमसे बहुत क्या कहूँ? उत्तर देनेसे उलटे पापका भागी हूँगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'संभावित कहुँ अपजस लाहू',*** यथा—**'संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥'** (गीता २। ३४) (इस श्लोकके **'मरणात् अतिरिच्यते'** इस पदका ही अर्थ ***'मरन कोटि सम दारुन दाहू'*** से स्पष्ट किया गया है) ***'संभावित'*** का भाव कि अप्रतिष्ठित पुरुषोंको अपयश होनेसे विशेष क्लेश नहीं होता, प्रतिष्ठितको विशेष होता है। ***'मरन कोटि सम'*** अर्थात् दधीचि आदि धर्मात्मा राजाओंको धर्म धारण करनेमें एक ही बार मरनेका क्लेश हुआ और जो हम धर्मका त्याग करें तो हमको ***'कोटि मरन सम'*** क्लेश होगा। जीवित रहनेपर भी अपयश होगा और मरनेपर भी बराबर अपकीर्ति बनी रहेगी।

टिप्पणी—२ ***'बहुत का कहऊँ'*** क्योंकि तुम सब धर्ममार्ग जानते हो। तदनन्तर तुम्हारे वचनका उत्तर दूँ तो पाप होगा। तुम्हारा वचन पिताका संदेसा है और तुम पिताके समान हो। उत्तर न देना चाहिये था। आपके ***'तात कृपा करि कीजिय सोई',*** इन वचनोंको बिना बिचारे ही मान लेना चाहिये था, यथा—***'मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥'*** (१। ७७। ३), ***'गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥', 'उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥'*** (१७७। ३-४) उत्तर देनेसे पाप होता है। इसीसे मैंने धर्मात्माओंका उदाहरणमात्र दिया है, आपके वचनोंका उत्तर नहीं दिया है। आप स्वयं समझदार हैं।

दो०—पितु पद गहि कहि कोटि नति बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि॥ ९५॥

अर्थ—पिताके चरण पकड़के, और हमारा कोटिशः नमस्कार कहकर, हाथ जोड़कर विनती करना कि हे तात! मेरी ओरसे किसी भी बातकी चिन्ता न कीजिये॥ ९५॥

नोट—१ श्रीरामचन्द्रजी पिताका इतना संकोच करते हैं कि पैर पकड़कर अनन्त बार नमस्कार करके हाथ जोड़कर विनती करके तब इतनी बात कहते हैं। ऐसा संकोची स्वभाव श्रीरामजीका है और श्रीभरतजीका भी ऐसा ही स्वभाव है जैसा उत्तरकाण्डमें देखनेमें आता है कि संकोचके कारण भरतजी संतोंके लक्षण न पूछ सके किन्तु श्रीहनुमान्‌जीसे प्रश्न कराया। श्रीभरतजीने स्वयं कहा है—*'महूँ सनेह संकोच बस सनमुख कही न बैन।'* (२६०) बड़े लोग अपनेसे बड़ोंका संकोच मानते ही हैं। कथनका अभिप्राय यह है कि जितनी बार नमस्कार कहना उतनी ही बार पैर छूना। *'चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि'* इसका भाव आगे स्पष्ट किया गया है—*'बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहउँ"""।'*

वि० त्रि०—श्रीरामजीने दूसरी चार दिनवाली आज्ञाको आज्ञा नहीं माना। समझते हैं कि पिताजीको मेरी बड़ी चिन्ता है कि यह कैसे वनवासमें समर्थ होंगे इसलिये चार दिनमें ही लौटनेको कहलाया। माताके वरदानवाली आज्ञा ही आज्ञा है, अतः कहते हैं कि *'चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि।'* *'पितु पद गहि कहि कोटि नति'* इसलिये कहते हैं कि चिन्तायुक्त होकर जो बातें चक्रवर्त्तीजीने कहलायी हैं उसे श्रीरामजी माननेयोग्य नहीं मान रहे हैं।

नोट—२ इस दोहेमें वाल्मी० ५२ के '**अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम्। ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः॥' 'न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति। अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति वा॥'** (२७-२८) इन श्लोकोंका भाव है। अर्थात् जिन्होंने दुःख नहीं देखे हैं, जो जितेन्द्रिय, श्रेष्ठ और वृद्ध हैं उन राजाको प्रणाम करके मेरे सम्बन्धमें आप उनसे ये बातें कहियेगा—अयोध्यासे हम बाहर हैं इसका दुःख न मुझे है न लक्ष्मणको और न इसका दुःख है कि हमें वनमें रहना पड़ेगा। इस कारण आप हमलोगोंकी चिन्ता न करें।

तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें। बिनती करउँ तात कर जोरें॥ १॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें। दुख न पाव पितु सोच हमारें॥ २॥
सुनि रघुनाथ सचिव संबादू। भयउ सपरिजन बिकल निषादू॥ ३॥

शब्दार्थ—**करतब्य** (कर्तव्य)=करनेयोग्य काम, धर्म।

अर्थ—आप भी पिताके समान ही मेरे अत्यन्त हितैषी हैं। हे तात! मैं हाथ जोड़कर आपसे विनय करता हूँ॥ १॥ सब प्रकारसे आपका वही कर्तव्य है अर्थात् आपको वही करना चाहिये, जिससे पिता हमारे शोकसे (अर्थात् हम तीनोंके सोचमें) दुःखी न हों॥ २॥ श्रीरघुनाथजी और मन्त्रीका संवाद सुनकर कुटुम्बसहित निषादराज व्याकुल हो गया॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'अति हित मोरें'* हो, अतएव हमारा अत्यन्त हित जिसमें है वह करो। हमारा भला इसीमें है कि *'दुख न पाव पितु सोच हमारें',* अतएव जिस तरह दुःख दूर हो वही करना। मन्त्री पिताके समान हैं अतएव इनसे हाथ जोड़कर विनती करते हैं, पिताके समान इनका भी संकोच (लिहाज) करते हैं।

टिप्पणी—२ *'सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें'* इति। *'सब बिधि'* को आगे सुमन्त्रके लौटनेपर खोला है यथा—(क) *'तुलसी करेहु सोइ जतनु जेहिं कुसली रहहिं कोसलधनी॥'* (१५१) (ख) गुरुसे मेरा सँदेशा कहना कि वह उपदेश दें जिससे पिता व्याकुल न होने पावें—*'गुरु सन कहब सँदेसु बार बार पद पदुम*

गहि। करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति॥' (१५१) (ग) पुरवासियोंको मेरी विनय सुनाना—*'पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनाएहु बिनती मोरी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जातें रह नर नाहु सुखारी॥'*

टिप्पणी—३ *'दुख न पाव पितु सोच हमारें।……'* इति। श्रीरामजीने अन्य सब जगह इस संवादमें अपने लिये 'एकवचनका प्रयोग किया है, यथा—(१) *'तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ',* (२) *'चिंता कवनिहु बात कै तात करिय जनि मोरि',* (३) *'तुम्ह पुनि पितु सम अतिहित मोरें'* और (४) *'बिनती करउँ तात कर जोरें।'* केवल यहाँ बहुवचन *'हमारें'* पद दिया। यह सहेतुक है, जान-बूझकर ऐसा कहा। इसका अभिप्राय यह है कि मेरे, सीताजी और लक्ष्मणजी हम तीनोंके सोचसे दुःखी न हों। ऐसा न कहते तो जान पड़ता कि औरोंका सोच राजाको नहीं है।

नोट—वाल्मी० २। ५२ के **'इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये। यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु॥ २२॥ मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज॥'** (६४) (अर्थात् इक्ष्वाकुवंशका आपके समान मित्र मैं दूसरेको नहीं देखता, अतएव आप वैसा प्रयत्न करें जिससे महाराज दशरथ मेरे लिये सोच न करें। मेरी तथा राजाकी प्रसन्नताके लिये आप अयोध्या जायँ), इन श्लोकों तथा **'जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल॥'** (६०) (अर्थात् स्वामिभक्त! आपकी परम भक्तिको मैं जानता हूँ) का भाव *'अति हित मोरें'* और *'सब बिधि सोइ करतब्य……'* में हैं! वहाँके **'सुहृदं'** **'भर्तृवत्सल'** और **'मम प्रियार्थं'** को यहाँके *'अतिहित'* से जना दिया है। और **'यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु'** तथा **'प्रियार्थं राज्ञश्च…'** का भाव चौ० २ में है। यहाँ विशेषता यह है कि वहाँ *'मां न शोचेत्'* (अर्थात् केवल अपने लिये) कहा है और यहाँ *'सोच हमारें'* है।

टिप्पणी—४ *'सुनि रघुनाथ सचिव……निषादू।'* इति। श्रीसुमन्त्रजीकी करुणाभरी विनय सुनी। उसका चरणोंपर गिर पड़ना और बालकोंकी तरह रो देना आँखों देखा। यथा—*'करि बिनती पायनि परेउ दिएउ बाल जिमि रोइ।'* यह भी कितना करुणापूर्ण है। श्रीरामजीने जो संदेसा पिता, माता, पुरजन, भरत इत्यादिको भेजा वह भी करुणासे परिपूर्ण था, उसे भी सुना। और श्रीरामजीका अयोध्याको लौट जाना स्वीकार न करना तथा वन जानेका दृढ़ निश्चय देखा और सुना। यह सब दृश्य करुणामय था। अतएव सब सुननेवाले निषाद दुःखी और व्याकुल हो गये। (**'निषादू'** शब्दका भाव कि ये सब कठोर हृदयवाले होते हैं सो भी व्याकुल हो गये। यह संवाद वा दृश्य ऐसा करुणामय था।)

पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥ ४॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लषन सँदेसु कहिअ जनि जाई॥ ५॥

अर्थ—तदनन्तर श्रीलक्ष्मणजीने कुछ कड़ुवे वचन कहे, जिन्हें बड़ा अनुचित जानकर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने मना किया॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीने सकुचकर अपनी कसम दिलाकर कहा कि जाकर लक्ष्मणका संदेसा न कहना॥ ५॥

नोट—*'पुनि कछु लषन कही कटु बानी। प्रभु बरजे'* इति।—जो वचन लक्ष्मणजीने कहे वे वाल्मीकीयमें हैं जिसे देखना हो देख ले। जब श्रीरामचन्द्रजी स्वयं उन्हें न कहनेके लिये अपनी शपथ देते हैं और कवि भी नहीं लिखते तो सम्पादक कैसे लिखे? हाँ, यह अवश्य है कि जो वचन वे बोले थे वे बड़े कटु थे।

मानस हंसकार लिखते हैं कि ऐसा भाषण बिना क्रोधी, बेलगाम और गुरुजन-निन्दकके अतिरिक्त किसी भी पुत्रसे नहीं हो सकता। पुत्रके द्वारा पिताकी ऐसी अवहेलना लोकशिक्षाके लिये केवल निरुपयोगी ही नहीं किंतु अतीव विघातक है। यह समझकर मालूम होता है कि *'लषन कहेउ कछु बचन कठोरा'* इतना ही कहकर स्वामीजीने उस प्रसङ्गको बिलकुल ही टाल दिया।'

पं० रामचन्द्र शुक्लजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी अत्यन्त प्रेमभरा संदेसा पितासे कहनेको कहते

हैं जिसमें कहींसे खिन्नता या उदासीनताका लेश नहीं है। वे सारथीको बहुत तरहसे समझाकर कहते हैं—*'सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें। दुख न पाव पितु सोच हमारें॥'* यह कहना लक्ष्मणको अच्छा नहीं लगता। जिस निष्ठुर पिताने स्त्रीके कहनेमें आकर वनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगा? पिताके व्यवहारकी कठोरताके सामने लक्ष्मणका ध्यान उनके सत्यपालन और परवशताकी ओर न गया, उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत न थी कि वे इतनी दूरतक सोचने जाते। पिताके प्रतिकूल कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर रामने उन्हें रोका और सारथीसे बहुत विनती की कि लक्ष्मणकी ये बातें पितासे न कहना।

'सकुचि राम निज सपथ देवाई' का 'सकुचि' शब्द कितना भावगर्भित है। यह कविकी अन्तर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्यका जीवन सामजिक है। वह समाजबद्ध प्राणी है। उसे अपने ही आचरणपर लज्जा या संकोच नहीं होता, अपने कुटुम्बी, इष्ट-मित्र या साथीके भद्दे आचरणपर भी होता है। पुत्रकी करतूत सुनकर पिताका सिर नीचा होता है, भाईकी करतूत सुनकर भाईका। इस बातका अनुभव तो हम बराबर करते हैं कि हमारा साथी हमारे सामने यदि किसीसे बातचीत करते समय भद्दे या अश्लील शब्दोंका प्रयोग करता है तो हमें लज्जा मालूम होती है। यह संकोच रामकी सुशीलता और लोकमर्यादाका भाव व्यञ्जित करता है। मर्यादापुरुषोत्तमका चरित्र ऐसे ही कविके हाथमें पड़नेयोग्य था। सुमन्त्रने अयोध्या लौटकर राजासे लक्ष्मणकी बातें तो न कहीं, पर इस घटनाका उल्लेख बिना किये उससे न रहा गया। क्यों? क्या लक्ष्मणसे उससे शत्रुता थी? नहीं। रामके शीलका जो अद्भुत उत्कर्ष उसने देखा, उसे वह हृदयमें न रख सका। सुशीलताके मनोहर दृश्यका प्रभाव मानव-अन्तःकरणपर ऐसा ही पड़ता है। सुमन्त्रको रामकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य करनेका दोष अपने ऊपर लेना कबूल हुआ, पर उस शील-सौन्दर्यकी झलक अपने ही-तक वह न रख सका, दशरथको भी उसे उसने दिखाया। इस अन्तिम झलकने राजाको और भी मृत्युके पासतक पहुँचा दिया होगा—इसे कहते हैं घटनाका सूक्ष्म क्रम-विन्यास।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी ठीक ही लिखते हैं कि लक्ष्मणजीका निश्चय यह था कि *'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'* इस निश्चयके अनुसार वे दशरथजीको पिता मानते ही नहीं हैं। श्रीसुमित्राजीकी भी यही आज्ञा और उपदेश है कि *'तात तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥'* श्रीसीतारामको ही वे अपने माता-पिता और सर्वस्व मानते हैं। माता-पिताको सुखके अवसरपर दुःख देनेवालेपर क्रोध होना यह सत्पुत्रका सहज स्वभाव ही है। उस स्वभावानुसार लक्ष्मणजीने जो कुछ कहा हो वह उनकी भावनानुसार उचित ही है। पर यह अलौकिक अपवादरूप भावना है। श्रीरामजी तो दशरथजीको पिता मानते हैं अतः उन्होंने लक्ष्मणजीको विशेष कहने नहीं दिया यह उन्होंने लौकिक व्यवहार मर्यादानुकूल ही किया।

प० प० प्र०—कोई-कोई कहते हैं कि श्रीरामाज्ञाका उल्लंघन प्रेम और शोकके आवेशमें किया गया, पर वस्तुतः यह बात नहीं है। मर्म क्या है यह १५२। ७ में स्पष्ट किया गया है। श्रीरामजीकी आज्ञा तो इतनी ही थी कि *'लषन संदेसु कहिअ जनि जाई'* और सुमन्त्रजीने संदेश नहीं ही कहा। अतएव उनकी आज्ञाका उल्लंघन कहाँ हुआ? श्रीरामाज्ञाका उल्लंघन तो कोई मनसे भी नहीं कर सकता, यथा—*'राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥'* तब सुमन्त्रजीके समान रामप्रेमी कैसे करेंगे।

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी',* का भाव कि जिनके वचन मानकर हम वनमें आये उनको ऐसा न कहना चाहिये। पिताको कटुवचन कहना बड़ा अनुचित है। यहाँ शङ्का होती है कि 'जब लक्ष्मणजी कह चुके तब मना करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ?' उत्तर—यदि वे न मना करते तो वे और भी कटुवचन कहते। इनके मना करनेसे वे चुप हो गये। (ख) लक्ष्मणजीने जो कुछ कटुवचन कहे उनको कविने खोलकर लिखा नहीं। इसमें कविके हृदयका उच्चभाव झलक रहा है, क्या उत्कृष्ट विचार हैं! देखिये, जब श्रीरामजी स्वयं ही सुमन्त्रको ही मना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि कहना नहीं तो कोई अभक्त, कोई कुसेवक, इत्यादि ही उसको स्पष्ट करनेकी चेष्टा कर सकता है। पूज्यपाद भक्तशिरोमणि गोसाईंजी, भगवान् शंकर, श्रीयाज्ञवल्क्यजी या भुशुण्डिजी कैसे अपनी लेखनी या मुखसे निकालें!

टिप्पणी—२ *'सकुचि राम निज सपथ देवाई'* इति। श्रीरामजीके सकुचनेका भाव कि सुमन्त्रजी जानते हैं कि लक्ष्मणजी रामजीकी इच्छानुकूल काम करते हैं; अतएव इन कटुवचनोंमें भी उनकी सम्मति अवश्य होगी; नहीं तो वे कदापि ऐसे वचन पिताके प्रति न कह सकते। कदाचित् सुमन्त्रजी ऐसा समझें, ऐसा विचारकर रामजी सकुच गये और अपनी शपथ दिलायी, क्योंकि वे जानते हैं कि हमारे समान इनको कोई और प्रिय नहीं है, हमारी शपथ सुनकर वे राजासे न कहेंगे।

टिप्पणी—३ *'लषन सँदेस'* इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि लक्ष्मणजीने सुमन्त्रजीसे कहा था कि जैसा हम कहते हैं वैसा ही जाकर राजासे कह देना। (१५२। ८) भी देखिये।

कह सुमंत्रु पुनि भूप सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू॥ ६॥
जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया॥ ७॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जिअब जिमि जल बिनु मीना॥ ८॥

अर्थ—सुमन्त्रजीने फिर राजाका सन्देसा कहा—सीता वनका क्लेश न सह सकेंगी॥ ६॥ जिस प्रकारसे सीता अवधको लौट आवें रघुवरको और तुमको वही करना चाहिये (यही तुम दोनोंका कर्तव्य है)॥ ७॥ नहीं तो बिलकुल ही अवलम्ब-(आश्रय, आधार, सहारा-) रहित होनेसे मैं जीता नहीं रहूँगा जैसे बिना जलके मछली (जीती नहीं रह सकती)॥ ८॥

टिप्पणी—पुरुषोत्तम रामकुमार—१ *'कह सुमंत्रु पुनि भूप सँदेसू'''* इति। 'लक्ष्मणजीका सन्देसा न कहना', जब रामजी यह कह चुके तब राजाका सन्देसा कहनेका भाव कि श्रीरामजीका उत्तर सुनकर सुमन्त्रजी विकल हो गये थे, इसीसे वे राजाका सन्देसा कहनेको भूल गये थे; जब रामजीने लक्ष्मणजीका सन्देसा कहनेके लिये मना किया तब उनको याद आया कि अभी और सन्देसा कहना था, बस वे कहने लगे। —(राजाने कहा था कि दोनों भाई न लौटें तब जानकीजीको लौटनेको कहना। अतएव जब उनका सन्देसाद्वारा न लौटना निश्चित हुआ तब दूसरा सन्देश कहा) (ख) *'पुनि'* अर्थात् रामजीके वचनके अनन्तर अथवा, एक सन्देसा कह चुके थे *'लषन रामसिय आनेहु फेरी।'* अब दूसरा सन्देश कहते हैं जो केवल सीताजीके निमित्त था। (ग) जब तीनोंको फेरनेको राजाने कहा था तब तीनोंकी सुकुमारता कही थी यथा—*'सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि'''।'* अतएव जब केवल सीताजीके लौटनेका सन्देसा कहने लगे तब इनकी ही सुकुमारता कही।

टिप्पणी—२ *'जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया।'* इति। जब राजाने सीताजीके लौटानेके लिये कहा था तब उसकी विधि भी बतायी थी कि ऐसा कहना *'सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू'''* परंतु रघुवरको कुछ विधि नहीं बतायी कि तुम इस प्रकार सीताको लौटाना; क्योंकि वे जानते हैं कि रामजीकी आज्ञासे वे लौट आवेंगी। सीताजीके लौटानेमें रामजी ही प्रधान हैं, अतएव प्रथम *'रघुबरहि'* पद दिया।

टिप्पणी—३ *'नतरु निपट अवलंब बिहीना।'''* इति। श्रीजानकीजीका लौटना अवलम्ब है, यथा—*'येहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥'* उनका न लौटना *'निपट अवलंब बिहीन'* होना है। मीनका दृष्टान्त देते हैं क्योंकि और जल-जन्तु जलके बिना जीते रह जाते हैं। पर मछली नहीं जीती रहती; वैसे ही सीता बिना हमारी अवश्य मृत्यु होगी, अभी लौटनेकी आशारूपी जलसे जीते हैं।

दो०—मइकें ससुरें सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥ ९६॥

शब्दार्थ—**बिहान**=बिहाइ **न**=बीत या दूर न हो जाय।

अर्थ—मायके (पिताके घर) और ससुरालमें सब सुख हैं, जब जहाँ जी चाहे तब तहाँ सीता सुखसे रहेंगी, जबतक विपत्तिका अन्त न हो॥ ९६॥

टिप्पणी—१ *'जब लगि बिपति बिहान'* इति।—कुछ लोग *'बिहान'* का अर्थ सबेरा करके इसका अर्थ

करते हैं—विपत्ति रात्रि है, उसका नाश होना और रामजीका आना बिहान है। परंतु यह अर्थ शिथिल है क्योंकि मूलमें *'बिपति बिहान'* इतना ही लिखा है, बिहान न होय यह कहाँसे निकला? अतएव दूसरी प्रकार अर्थ करते हैं—*'जब लगि बिपति बिहाइ न।'* अर्थात् विपत्तिका त्याग न होइ। यहाँ इकारका लोप है छन्दके कारण।

वि० त्रि०—'मायकेमें या ससुरालमें सभी सुख हैं, जबतक विपत्तिका बिहान हो तबतक सीताजी जहाँ जी चाहे रहें।' परंतु आजकल बोलनेकी रीति ऐसी है कि 'जबतक विपत्तिका बिहान न हो तबतक वहाँ रहें।' 'जबतक विपत्तिका बिहान हो तबतक वहाँ रहें' और 'जबतक बिहान न हो तबतक वहाँ रहें इन दोनों वाक्योंमें अर्थ-भेद कुछ भी नहीं है। रामजीका वनसे लौट आना ही विपत्तिका बिहान है। पहले वाक्यमें रामजीकी उपस्थितिको लक्ष्य करके जो बात कही गयी है, दूसरेमें वही बात उनकी अनुपस्थितिको लक्ष्य करके कही गयी। अनुपस्थितिका अन्त उपस्थिति होनेसे हो जाता है, अतः दोनों वाक्योंमें अर्थ-भेद नहीं है। अन्य स्थानोंमें भी गोस्वामीजीने ऐसा ही प्रयोग किया है, यथा—*'तब लगि बैठि अहौं बट छाहीं। जब लगि तुम अइहों मोहि पाहीं॥'* तथा—*'तब लगि मोहि परिखेउ तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई॥ जब लगि आवउँ सीतहिं देखी।'* यहाँ दोनों जगह *'न'* का अध्याहार करके अर्थ करनेमें सुविधा पड़ेगी, परंतु न के न आनेसे कोई हानि नहीं हुई।

टिप्पणी—२ *'मइकें ससुरें सकल सुख'* इति। राजाने कहा कि बिना जानकीजीके हम न जियेंगे जैसे बिना जलके मीन। इससे पाया गया कि जानकीजी हमारे नजरके सामने सदा बनी रहें तब हम जीते रह सकेंगे; अतएव कहते हैं कि हमारे पास सदा रहनेका प्रयोजन नहीं है, मायके, ससुरे जहाँ मन चाहे रहें। लड़कीका मन मायकेमें बहुत रहता है इससे प्रथम *'मइकें'* कहा। अथवा, प्रथम मायका है पीछे ससुराल उसी क्रमसे कहा।

बिनती भूप कीन्ह जेहिं भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती॥ १॥
पितु सँदेस सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना॥ २॥

अर्थ—राजाने जिस प्रकार (आर्त होकर और प्रेमसे) विनती की है वह दुःख, दीनता और प्रीति कही नहीं जा सकती॥ १॥ कृपासागर रामजीने पिताका संदेसा सुनकर अनेक प्रकारसे सीताजीको उपदेश किया॥ २॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'आरति प्रीति न सो कहि जाती'* इति। (क) केवल सन्देसा कह देनेसे रामजीको कम संकोच होगा और *'बिनती'* सुनानेसे बहुत संकोच होगा कि पिता होकर विनती की है, लौट चलें। पिता पुत्रसे विनती करे यह अयोग्य है और उसपर भी आर्त और प्रेमसे भरी हुई विनती है, तात्पर्य कि आर्त और प्रेममें मर्यादा नहीं रहती। (ख) *'न कहि जाती'* अर्थात् वह दीनता और प्रेम हममें कहाँ जो हम उसे ठीक प्रकारसे कह सकें। दूसरे उसका स्मरण आते ही कलेजा भर आता है।

टिप्पणी—२ (क) कृपानिधान हैं, सास-ससुर-परिवार आदि सबपर कृपा करके सीताजीको लौटनेको कहते हैं, यथा—*'सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटइ खभारू॥'* (ख) *'सियहि दीन्ह सिख…'* इति। एक बार अनेक प्रकारसे सिखावन दे चुके हैं वैसे ही शिक्षा फिर दी है, इसीसे पुनः वही बात विस्तारसे न लिखकर *'कोटि बिधाना'* कह दिया है।

☞ पिछली बार श्रीरामजीने शिक्षा देकर घर रहनेकी आज्ञा दी थी, यथा—*'राजकुमारि सिखावन सुनहू। बचन हमार मानि घर रहहू'॥* इसका उत्तर श्रीजानकीजीने ऐसा दिया कि बन साथ चलनेकी आज्ञा देते ही बनी। इस कारणसे यहाँ केवल *'सिख'* दे रहे हैं, आज्ञा नहीं।

सासु ससुर गुर प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटै खभारू॥ ३॥
सुनि पति बचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही॥ ४॥
प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥ ५॥

शब्दार्थ—**खभारू** (खँभार)=खलबली, दुःख। **छाँह**=छाया। **छेकी**=अलग करनेसे, रोकनेसे।=अलग।

अर्थ—जो तुम लौट जाओ तो सास, ससुर, गुरु, प्रियजन और परिवार सबका दुःख मिट जाय॥ ३॥ पतिका वचन सुनकर वैदेही जानकीजी कहती हैं—हे प्राणपति! हे परमस्नेही! सुनिये॥ ४॥ हे प्रभु! आप करुणामय हैं, परम ज्ञानवान् हैं, (भला) देहको छोड़कर छाया कब अलग रह सकती है?॥ ५॥

टिप्पणी—१ सास-सुसर आदि क्रमसे कहे गये—इसके भाव पूर्व लिखे गये हैं। *'फिरहु त'* से फिरना श्रीसीताजीके अधीन रखा, फिरनेकी आज्ञा नहीं देते। श्रीसीताजी सबको प्रिय हैं, अतएव इनके लौटनेसे सबका दुःख दूर होगा, यथा—*'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु ससुर परिजनहिं पियारी॥'* (५८। ८)

टिप्पणी—२ *'सुनि पति····'* इति। पहले सुमन्त्रजीने राजाके वचन कहे। तदनन्तर श्रीरामजीके वचन कहे। श्रीसीताजी किसके वचनोंका उत्तर देती हैं यह *'प्रानपति परम सनेही'* शब्दोंसे एवं *'सुनि पति बचन'* से भी स्पष्ट हो जाता है। *'बैदेही' 'प्रानपति'* और *'परमसनेही'* के भाव क्रमसे ये हैं कि बिना पतिके इनकी देह न रहेगी (ये कविके वचन हैं), प्राण न रहेंगे (प्राणपति आदि श्रीवैदेहीजीके वचन हैं) और सासु-ससुर आदि सब स्नेही हैं पर आप परम स्नेही हैं तो भला मैं आपको छोड़कर कैसे जा सकती हूँ। (प्रज्ञानानन्द स्वामीका मत है कि *'बैदेही'* शब्दसे जनाया कि *'सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू'* ये वचन यथार्थ नहीं हैं। क्योंकि सीय तो वैदेही है अर्थात् देहभोगासक्तिविहीन है; अतः वह सब कुछ सह सकती है। वैदेहीका मन तो सदा श्रीरामचरणमें रत रहता है तब *'मन बिनु तन दुख सुख सुधि केही।' 'प्रानपति'* का भाव कि आप मेरे प्राणोंके रक्षक हैं तब मुझे दुःख और भय आदि कहाँ। पूर्व भी कहा है—*'कहँ दुख समय प्रानपति पेखें।'* (६७। ४) *'को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा।'* (६७। ७) *'बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥'* (६७। ६)—यह सब भाव यहाँ *'प्रानपति'* सम्बोधनसे सूचित किये हैं)।

टिप्पणी—३ *'प्रभु करुनामय परम बिबेकी·····।'* इति। आप करुणामय हैं। अतः मुझपर दया करें। (क्योंकि करुणा और दयाका सम्बन्ध है। जहाँ करुणा रहेगी वहीं दया रहेगी। नं० प०), जिसमें मेरे प्राण रहें। *'परम बिबेकी'*—महारानीजी आगे विवेककी बातें कहनेको हैं इसीसे श्रीरामजीको *'परम बिबेकी'* कहकर जनाती हैं कि आपके सामने कोई विवेककी बातें क्या कहेगा—आप तन हैं तो मैं छाया हूँ, छाया क्या तनको छोड़कर अलग दूसरी जगह रह सकती है? तात्पर्य कि आप लौटें तो मैं भी साथ लौटूँगी, आप वन जायँगे तो मैं भी साथ रहूँगी; जैसे देहके साथ ही छाया रहती है चाहे जहाँ वह जाय।—[**'कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।'** (वाल्मी० २। ४०। २४) अर्थात् धन्य है यह वैदेही जो पतिके साथ छायाके समान लगी है, यह धर्मज्ञा श्रीरामजीका साथ कभी नहीं छोड़ती, जैसे मेरु पर्वतको सूर्यकी प्रभा नहीं छोड़ती। (ये श्रीअवधवासियोंके वचन हैं) सुतीक्ष्णजीने भी श्रीरामजीसे वाल्मी० ३। ८ में कहा है कि श्रीसीताजी छायाके समान तुम्हारा अनुवर्तन करनेवाली हैं—*'सीतया चानया सार्द्धं छाययेवानुवृत्तया।'* (११)]

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—भाव कि सरकार शरीर हैं तो मैं छाया हूँ। छाया कुछ जान-बूझकर शरीरका साथ नहीं पकड़े हुए है, उस (छाया) का शरीरके साथ रहना स्वभावसिद्ध है। जगत्की रीति भी यही है कि जो छायाको रोकना चाहे, वह शरीरको रोके तो छाया आपसे-आप रुक जायगी, कुछ कहने-सुननेकी आवश्यकता नहीं, शरीरके बिना रोके छायाका रोकना असम्भव है। भाव सीताजीका यह है कि जो मुझे रोकना चाहता है, उसे उचित है कि आपको रोके। यही स्वभावसिद्ध है, और आपको न रोककर मुझे रोकनेका प्रयत्न करना अस्वाभाविक है, अनुचित है। रुकना मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है।

प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई॥ ६॥
पतिहि प्रेम मय बिनय सुनाई। कहति सचिव सन गिरा सुहाई॥ ७॥
तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी॥ ८॥

अर्थ—सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़कर कहाँ जा सकती है? चाँदनी चन्द्रमाको त्यागकर कहाँ जा सकती है?॥६॥ पतिको प्रेमभरी विनय सुनाकर, वे मन्त्रीसे सुन्दर वाणी बोलीं॥७॥ आप पिता और ससुरके समान मेरे हितैषी हैं, फिर भी उलटकर सम्मुख होकर मैं उत्तर दूँ, यह बहुत ही अयोग्य है॥८॥

टिप्पणी—१ *'प्रभा जाइ……'* इति। सूर्य-चन्द्रमाकी उपमा देनेका भाव कि सूर्यका प्रकाश दिनमें रहता है और चन्द्रमाका रातमें, ऐसा ही मेरा और आपका संयोग दिन-रात अर्थात् निरन्तर रहता है। आप सूर्य हैं तो मैं प्रभा, आप चन्द्र हैं तो मैं चन्द्रिका हूँ, जब आप राम तब मैं सीता हूँ।

नोट—१ वाल्मीकीयमें भी श्रीसीताजीने ऐसा ही कहा है। सुन्दरकाण्डमें रावणसे कहा है कि **'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥'** (२१।१५) अर्थात् मैं श्रीराघवजीकी वैसी ही अनन्या हूँ जैसे प्रभा सूर्यकी और अयोध्याकाण्डमें माता कौसल्यासे कहा है कि **'धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा।'** (३९।२८) अर्थात् मैं अपने पातिव्रत्य धर्मसे विचलित नहीं होनेकी जैसे चन्द्रमाकी प्रभा चन्द्रमासे अलग नहीं हो सकती।

नोट—२ (क) चन्दु-९१ (७) *'रामचंदु पति……'* में देखिये। (ख) 'भानु तापदायक है और चन्द्र तापहारक है। भानुकी उष्णतासे प्रभा भी ताप-सन्ताप युक्त होकर भी भानुका संग नहीं छोड़ती। और चन्द्रिका सुखमय होनेपर भी चन्द्रमाके साथ ही रहती है। अतः भाव यह है कि चाहे दुःख हो चाहे सुख, पतिका त्याग करके पतिसे अलग रहना पतिव्रताका धर्म नहीं है।' (प० प० प्र०) पुनः, भाव कि भानु और प्रभा, एवं चन्द्र और प्रभा निसर्गसे ही अभिन्न हैं, उनको कोई अलग कर नहीं सकता; वैसे ही हम दोनों देखनेमात्रमें दो हैं; वस्तुतः तत्त्वतः एक ही हैं, तब अलग कैसे हो सकते हैं। ***'कहियत भिन्न न भिन्न।'*** (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ ***'सुनि पति बचन कहति बैदेही'*** उपक्रम और ***'पतिहि प्रेममय बिनय सुनाई'*** उपसंहार है। ***'प्रेममय'*** अर्थात् इनमें किञ्चित् कठोरता नहीं आने पायी। ***'बिनय सुनाई'*** अर्थात् पतिको उत्तर नहीं दिया किन्तु उनसे विनय की। पतिसे वचन ***'प्रेममय'*** कहे और मन्त्रीसे *'गिरा सुहाई'*—इसका भाव यह है कि उनका प्रेम अपने पतिमें है और किसीमें नहीं इसीसे पतिको प्रेममय विनय सुनायी, और मन्त्रीको सुन्दर वाणी सुनायी।

टिप्पणी—३ *'उतरु देउँ फिरि……'* अर्थात् आपके सम्मुख होकर उत्तर दूँ तो भारी अनुचित है। जैसा रामजीने सुमन्त्रजीसे कहा वैसा ही श्रीजानकीजी भी कहती हैं; क्योंकि वे जानती हैं कि श्रीरामजी विचारकर वचन बोलते हैं, उनके वचनके अनुसार बोलनेमें हमको विचार करनेका प्रयोजन नहीं। श्रीरामजीने सुमन्त्रको पिताके समान हितकारी कहा, यथा—***'तुम्ह पुनि पितु सम हितु मोरें'*** इसीसे जानकीजीने भी उन्हें पिताके समान हितकारी कहा। श्रीरामजीने कहा कि *'दिये उतरु फिरि पातक लहऊँ'* वैसा ही ये कहती हैं ***'उतरु देउँ०'*** । आखिर फिर उत्तर क्यों देती हैं? इसका समाधान वे स्वयं आगे करती हैं।

दो०—आरति बस सनमुख भइउँ बिलगु न मानब तात।
आरजसुत पद कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात॥९७॥

अर्थ—परंतु दुःखके वश मैं सम्मुख हुई, हे तात! इसका बुरा न मानना (कि सीताजीने हमारा सङ्कोच छोड़ दिया)। आर्यपुत्र (वा, श्रेष्ठ दशरथमहाराजके पुत्र रामचन्द्रजी) के चरणकमल बिना जहाँतक भी सम्बन्ध हैं वे सब व्यर्थ हैं॥९७॥

टिप्पणी—१ (क) *'आरति बस……'* अर्थात् आर्तके चित्तमें चेत वा विचार नहीं रह जाता, यथा—***'रहत न आरतके चित चेतू।'*** (२६९-४) उसका दोष सन्त नहीं मानते, यथा—***'दुखित दोष गुन गनहिं न साधू।'*** (१७७। ८) अतएव आप भी अनुचित न मानियेगा। (ख) ***'सनमुख भइउँ'*** का भाव यह भी है कि सामने न निकलती थी, आज सामने होकर उत्तर देती हूँ। (वाल्मी० ३३ में पुरजनोंके वचन हैं—**'या**

न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि। तामद्यसीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥' (८) अर्थात् जिनको आकाशचारी देवता भी न देख सकते थे आज उसी सीताको सब मार्गके लोग देख रहे हैं।)

नोट—१ *'आरज'* (आर्य)=श्रेष्ठ पुरुष, पूज्य। स्वामी, गुरु, सुहृद् आदिको सम्बोधन करनेमें इस शब्दका व्यवहार करते हैं। छोटे लोग बड़ेको जैसे स्त्री पतिको, छोटा भाई बड़ेको, शिष्य गुरुको आर्य वा आर्यपुत्र कहकर सम्बोधन करते हैं। नाटकोंमें नटी भी सूत्रधारको आर्य वा आर्यपुत्र कहती है। वाल्मी० २। २७ में श्रीसीताजीने यह सम्बोधन दिया है—'**आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा। स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते**'॥ ४॥ '**भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।**' (अर्थात् हे आर्यपुत्र! पिता-माता, भाई आदि सब अपने कर्मानुसार दुःख-सुख भोगते हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! एक स्त्री ही पतिके कर्मफलोंकी भागिनी है।—यह भाव *'बादि जहाँ लगि नात'* में आ जाता है। फिर कनकमृगको देखकर श्रीरघुनाथजीको बुलाते समय भी यही सम्बोधन दिया है—'**आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज।**' (३। ४३। ३) गीतावलीमें भी पतिके लिये सीताजीने इस शब्दका प्रयोग किया है, यथा—*'आरज सुवनके तो दया दुवनहुँ पर मोहि सोच मो तें सब बिधि नसानि।'* (५।७) (हनुमान्‌जीसे ये बचन कहे हैं।)

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि श्रीजानकीजी कोई नाम नहीं देतीं, *'आरज'* पद दे रही हैं। आर्य=श्रेष्ठ। जहानमें जो श्रेष्ठ है उसके सुत। यहाँ प्रसङ्गसे दशरथजीका अर्थ गृहीत है। उनको श्रीरामजीकी स्तुतिमें 'आर्य' कहा गया है, यथा—'**ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥**' ऐसे जो धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं जिन्होंने प्राण छोड़ना स्वीकार किया, सत्य न छोड़ा, उनका वचन मानकर वनको आये हैं। वे महाराज श्रेष्ठ और उनके ऐसे पुत्र श्रेष्ठ। इस श्लोकके अनुसार यहाँ 'आर्य' कहा गया है।

टिप्पणी—२ *'आरजसुत पद कमल बिनु·····'* अर्थात् उनके सहितसे सब नाते माने जाते हैं, यथा—*'पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानियहि रामके नाते॥'* उनके बिना सब नाते व्यर्थ हैं, यथा—*'मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।·····जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते॥'*

पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित[१] पद पीठा॥ १॥
सुखनिधान अस पितुगृह[२] मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥ २॥
ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ॥ ३॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई॥ ४॥
ससुर एतादृस अवध निवासू। प्रिय परिवारु मातु सम सासू॥ ५॥
बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ[३] सपनेहुँ सुखद न लागा॥ ६॥

शब्दार्थ—**बैभव**=ऐश्वर्य। **बिलास**=सुखभोग, आनन्द।=शोभा, छटा। **डीठा** (दृष्टि)=देखा। **पद पीठा**=खड़ाऊँ यथा=*'प्रभु पद पीठ रजायसु पाई॥'* (३२४। १) *'चरनपीठ करुनानिधान के।'* (३१६। ५) तलवा और चरण रखनेकी चौकी भी अर्थ लोगोंने किया है। **चक्कवइ** (प्रा०)=चक्रवर्ती राजा। **एतादृस** (सं०)=ऐसा, इस प्रकारका।

अर्थ—पिताके ऐश्वर्यकी शोभा मैंने देखी है कि श्रेष्ठ राजाओंके मुकुट उनके खड़ाऊँ-(या तलवों वा चरण रखनेकी चौकी-) से मिलते हैं अर्थात् बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा हमारे पिताको साष्टाङ्ग प्रणाम

१ मिलित—राजापुर, छ०। मिलत-१७६२, का०, को० रा०।
२ पितृगृह—राजापुर, छ०, रा० प्र०। माइक-१७६२, को० रा०।
३ केउ—राजापुर, को० रा० १७०४। सब-छ०। कोउ-१७६२।

करते हैं जिससे उनके मुकुट खड़ाऊँका स्पर्श करते हैं॥१॥ ऐसा सुखमय पिताका घर भी पतिके बिना मेरे मनको भूलकर भी नहीं अच्छा लगता॥२॥ मेरे ससुर चक्रवर्ती महाराज कोसल देशके राजा हैं जिनका प्रभाव चौदहों भुवनोंमें प्रकट है॥३॥ इन्द्र आगे आकर जिनकी अगवानी करते हैं और (अपने बराबर) आधे सिंहासनपर बिठाते हैं॥४॥ इस तरहके ससुर, अवधपुरीका बास, प्यारा कुटुम्ब और माताके समान सास (ये सब हैं)॥५॥ पर श्रीरघुनाथजीके चरणकमलरजके बिना मुझे कोई स्वप्नमें भी सुखद नहीं लगता॥६॥

टिप्पणी—१ *'पितु बैभव बिलास……'* इति। (क) *'नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा'* यह वैभव-विलास है जो देखा। बड़े-बड़े राजशिरोमणि उनको प्रणाम करते थे। [महाराजाओंका सिंहासन इतनी ऊँचाईपर होता है कि जब कोई छोटा राजा आकर प्रणाम करता है तो उसका मुकुट पैरोंसे छू जाता है। (लाला भगवानदीनजी)] अथवा, (ख) *'पदपीठा'* से सूचित करते हैं कि जब हमारे पितासे भेंट नहीं होती तब राजा लोग उनके खड़ाऊँको प्रणाम करते हैं। (ग) खड़ाऊँको प्रणाम करनेसे ऐश्वर्य नहीं सूचित होता क्योंकि महात्माओंके खड़ाऊँको राजा लोग प्रणाम करते ही हैं, जनकमहाराज महात्मा हैं, उनके खड़ाऊँको प्रणाम किया सो उचित ही है। इसपर कहते हैं कि महात्मा-भावसे प्रणाम नहीं करते, विभव देखकर प्रणाम करते हैं, दरवाजेपर राजाओंकी भीड़ लगी रहती है—*'सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा॥'* (१।२१४।१)

वि० त्रि०—*'बिनु रघुपति……'* इति। चक्रवर्तीजीका सन्देश कहते हुए सुमन्त्रजीने कहा था कि *'मइके ससुरे सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान। तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥'* (९६) इसीका उत्तर देते हुए भगवती कहती हैं कि *'सुख निधान अस पितु गृह मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥'* इस भाँति मायकेका प्रत्याख्यान किया, अब श्वसुरालयका प्रत्याख्यान करती हैं *'बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि कोउ सपनेहु सुखद न लागा॥'* स्त्रियोंके लिये दो ही स्थान हैं, मायका या श्वशुरालय। जब दोनों सुखद नहीं मालूम होते तो सिंवा पतिके साथके तृतीय गति नहीं है।

अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा॥७॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा॥८॥

अर्थ—दुर्गम रास्ते, अगम वन, अगम मैदान और अगम पहाड़, अगणित हाथी और सिंह और अपार तालाब और नदियाँ और कोल, भील, हिरन और पक्षी—प्राणोंके नाथ श्रीरामचन्द्रजीके साथ मुझे ये सब (जो साधारणतया यात्रियोंको विपज्जनक हैं) सुख देनेवाले होंगे॥(७-८)

नोट—१ *'अगम'* शब्द पन्थ, वन, भूमि और पहाड़ सबका विशेषण है। *अगम*=जिसमें चलना, गुजर होना कठिन है। *'अपार'* शब्द भी ऐसा ही है।

नोट—२ *'बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥'* यहाँतक *'मइकें ससुरें सकल सुख……'* का उत्तर हुआ। अब कहती हैं कि पतिके साथ वन, वनके दुःखद जीव इत्यादि सब सुखदायी होंगे। भाव यह कि अयोध्यासे पन्थ, वन, भूमि और पहाड़ अधिक सुखकर लगेंगे, यथा—*'सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा॥'* (३।७।४) परिवारसे कोल-किरात, पिता और ससुरसे करि-केहरि-कुरंग और पक्षी अधिक सुखदायी होंगे। देखिये, कोल-किरातोंकी सेवा दोहा १३५, १३६ में किंचित् दिखायी गयी है। यथा—*'यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई॥'* (१३५।१) *'……हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥'* (१३६।८) अर्थात् स्त्रियाँ श्रीसीताजीकी सेवा करेंगी, पुरुष पुरुषोंकी सेवा करेंगे। पक्षी जटायुने ससुरकी तरह रक्षा की, वानर-भालु आदिने सेवा की, हनुमान्-सुग्रीव आदि समाज-सहित इनके लिये लड़े। इन सबके सुखदायी होनेका कारण 'प्राणपतिका संग' बताया। प्राणोंके पति

अर्थात् रक्षक ही साथ हैं, जो माताके उदरमें रक्षा करते हैं, तब फिर कौन डर? 'प्राणपति' को यहाँ ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंमें लेना चाहिये। *कुरंग*=बादामी रंगका हिरन।=घोड़ा। यहाँ पशु अभिप्रेत हैं।

नोट—३ यहाँ इतने नाम गिनाये कि ये सब सुखद होंगे। इनमें राक्षसोंको नहीं गिनाया। कारण कि उन्हें तो मारना ही है, इसीलिये अवतार है—*'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'* (३। ९) वे तो घोर दुःख देनेवाले होंगे। सीताजी न होतीं तो रामायण ही न होता। रावणके नाशका कारण वे ही होंगी। इसीलिये उनका अवतार ही है। मन्दोदरी और विभीषणादिने यही कहा है, यथा—*'तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥'* (५। ३६। ९) *'काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥'* (५।४०।८)

दो०—सासु ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पायँ।
मोरि सोचु जनि करिअ कछु मैं बन सुखी सुभायँ॥ ९८॥

शब्दार्थ—**हुँति**=(प्राकृत हुन्त)=तरफसे, ओरसे। **सुभायँ**=स्वाभाविक, बिना किसी यत्नके; जो जन्मसे वहाँ रहनेके कारण सहज ही वहाँ रहते हैं वैसे।

अर्थ—सास और ससुरसे मेरी ओरसे पाँव पड़कर विनती कीजियेगा कि मेरा कुछ भी सोच न कीजिये। मैं वनमें स्वाभाविक ही (अर्थात् जैसे वनवासी वनमें रहते हैं वैसे ही) सुखी हूँ॥ ९८॥

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। बीर धुरीन धरे धनु भाथा॥ १॥
नहि मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरें। मोहि लगि सोचु करिअ जनि भोरें॥ २॥

शब्दार्थ—**'धुरीन'**=श्रेष्ठ, धुरंधर, अग्रगण्य। **भोरें**=भूलकर भी।

अर्थ—मेरे प्राणनाथ पति और प्रिय देवर साथ हैं जो वीरोंमें अग्रगण्य हैं, धनुष और (बाणोंसे भरा हुआ अक्षय) तर्कस* धारण किये हुए हैं॥ १॥ (इससे मुझे) न तो रास्तेकी थकावट है और न मेरे मनमें भ्रम और (किसी प्रकारका) दुःख है। मेरे लिये भूलकर भी सोच न कीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'प्राननाथ'*—पतिव्रता स्त्रीका पति ही उसके प्राणका नाथ है, यह माधुर्यमें अर्थ हुआ और ऐश्वर्यमें रामजी सबके प्राणोंके नाथ हैं सो प्राणके रक्षक साथमें हैं। (ख) ***'बीर धुरीन धरे धनु भाथा'***।—अर्थात् एक तो वे वैसे ही वीरोंमें धुरंधर हैं, दूसरे हथियार भी हाथमें हैं; अतएव कोई भी शत्रु कुछ नहीं कर सकता, शत्रुता करनेवाले कोई इनसे बच नहीं सकते, सब मारे जायँगे। २—***'नहि मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरें'***—मनमें थकावटका दुःख नहीं और न किसीसे बाधा होनेका भ्रम है। अथवा, श्रमके दुःखका भ्रम भी नहीं है। (पंजाबीजी)

श्रीरामजी और श्रीसीताजीकी उक्तियोंका मिलान

श्रीरामोक्ति	श्रीसीतोक्ति
दिए उतरु फिरि पातक लहऊँ	*उतरु देउँ फिरि पातक भारी*
पितुपद गहि कहि कोटि नति	*सास ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पायँ।*
तुम्ह पुनि पितुसम अतिहित मोरें	*तुम पितु ससुर सरिस हितकारी*
चिंता कवनिउ·····जनि मोरि	*मोरि सोचु जनि करिय कछु मैं बन सुखी सुभायँ।*

सुनु सुमंत्रु सिय सीतल बानी। भएउ बिकल जनु फनि मनि हानी॥ ३॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥ ४॥

* वीरकवि—यहाँ 'भाथा' शब्दमें मुख्यार्थ बाध होकर लक्ष्यार्थ 'बाण' लिया जायगा। ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'धीर धुरीन' पाठ है। राजापुर, भागवतदास, पं० रा० गु० द्विवेदीकी प्रतियोंमें 'बीरधुरीन' है।

राम प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहि सीतलि छाती॥५॥
जतन अनेक साथ हित कीन्हे। उचित उतर रघुनंदन दीन्हे॥६॥

अर्थ—श्रीसीताजीकी शीतल वाणी सुनकर सुमन्त्रजी ऐसे विकल हो गये मानो सर्प मणि खो जानेसे व्याकुल हो रहा है॥३॥ नेत्रोंसे कुछ दिखायी नहीं पड़ता, कानोंसे सुन नहीं पड़ता। वे बहुत ही व्याकुल हो गये हैं, कुछ कह नहीं सकते॥४॥ श्रीरामचन्द्रजीने बहुत समझाया तो भी छाती ठंडी नहीं होती। अर्थात् छाती जल रही है॥५॥ साथ जानेके लिये उन्होंने बहुत उपाय किये, पर रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने उचित (जैसा चाहिये वैसा ही) उत्तर दिये॥६॥

टिप्पणी—१ *'भयउ बिकल जनु फनि मनि हानी'* इति।—यहाँ श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तीन मणि हैं। एक सर्पके कई मणियाँ होती हैं, जितने मुँह उतने मणि। अथवा, तीनों मिलकर एक ही मणि हैं, इस प्रकार कि श्रीसीताजी अर्द्धाङ्गिनी हैं और लक्ष्मणजी और रामजी एक ही पिण्डसे हुए। अथवा, इस उत्प्रेक्षासे जनाया कि उसे मरणान्त दुःख हुआ।

नोट—१ सुमन्त्रजी श्रीलक्ष्मणजीसे तो निराश थे ही, पर राजाने कहा था कि सीताजीहीको लौटा लाना। इनको न लौटा सकना मणिका खोना है। इन्हींकी शीतल (कोमल विनम्र) वाणीने उनको व्याकुल भी किया है।

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि शीतल वाणी सुननेसे सुननेवालेको शीतलता होती है, सो न हुआ; बल्कि घोर विकलता हुई, इन्द्रियाँ विकल हो गयीं, आँखसे सूझता नहीं, कानसे सुनायी नहीं पड़ता मानो सर्पकी मणि छिन गयी। *'मनि बिना फनि जिये ब्याकुल बेहाल रे।'* यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि मणिस्थानीय कौन है या फणिस्थानीय कौन है, यहाँ तो केवल विकलताको दिखानेके लिये मणिविहीन सर्पकी विकलताकी उपमा देते हैं।

नोट—२ पंजाबीजी लिखते हैं कि जहाँ-जहाँ ग्रन्थमें शीतल वाणीसे व्याकुल होना कहा गया तहाँ-तहाँ चाँदनी चक्रवाक, तुहिन-तामरसके दृष्टान्त दिये गये; पर यहाँ उनके अनुसार उत्प्रेक्षा नहीं की गयी। सर्पकी मणिहानिका दृष्टान्त दिया गया। यह असङ्गत जान पड़ता है। इसका समाधान यह है कि यहाँ दृष्टान्तका एक अङ्ग व्याकुल वा संतत होना लिया गया। इनके साथ यहाँतक रहे, अब इनके बिना यहाँसे अकेले लौटना होगा, यही पासकी मणिका खोना है, मणि खोनेसे सर्प व्याकुल होता ही है वैसे ही ये व्याकुल हुए। अथवा, यों समाधान कर लें कि सर्प रातमें मणि निकालकर उसके प्रकाशमें विचरता है, यद्यपि रात ठण्ढी होती है तो भी सर्प तो मणिहीन होनेसे व्याकुल होता ही है। वैसे ही सीताके वचन शीतल हैं पर वियोग करानेवाले हैं, अतएव मन्त्री व्याकुल हो गया। यह उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

टिप्पणी—२ *'नयन सूझ नहिं सुनइ न काना।'*...... इति। यहाँ तीन बातें कहकर तीन प्रकारका दुःख सुमन्त्रको होना दिखाया। अंधेको नेत्रोंसे न दिखनेका दुःख, बहिरेको न सुननेका और गूँगेको न बोल सकनेका जैसा दुःख होता है वैसा ही मन्त्रीको दुःख हुआ। यहाँ राम नेत्र, लक्ष्मण कान और जानकी वाणी—तीनोंकी हानि हुई। अथवा, इनसे भी मरणान्त दुःख दिखाया। [श्रीरामजी सुमन्त्रजीको पिताके समान मानते हैं, यथा—*'आदरु कीन्ह पिता सम लेखा।'* (३९। ६) *'तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें।'* (९६। १) और पिताका वाक्य है कि *'मोरे भरत राम दुइ आँखी'*। अतएव श्रीरामजी सुमन्त्रके नेत्र हुए। लक्ष्मणजी कान (श्रुति) हैं। इन्होंने शूर्पणखाको *'श्रुतिहीना'* कर दिया। वैदेहीजी गिरा हैं, यथा—*'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।'* (१। १०५। ४) *'गिरा अरथ जल बीचि सम'*......' (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—*'राम प्रबोध कीन्ह......छाती।'* इति। रामजीने बहुत भाँतिसे प्रबोध किया, यथा—*'तातके प्रधान गुन ज्ञानके निधान धर्म नीतिमें प्रमान आप सरिस जनैया कौन। काकों मुख ताकों एहि संकट बिकट माहिं धरि उर धीर लाज पतिको सँभारौं जौं न॥ पितहि बुझाय समुझाय सब मातन को लीजिए रजाय बेगि*

भरत बुलावो भौन। सुकृत न जाय जग जस सरसाय ताप तिमिर नसाय आप करिय उपाय तौन॥' एवं रीत्या रामजीने बहुत समझाया, पर कलेजेमें ऐसी आग लगी हुई है कि समझाने-बुझानेसे छाती ठण्ढी नहीं होती।

नोट—३ *'जतन अनेक साथ हित कीन्हे'* इति। वाल्मी० २। ५२ में उन्होंने कहा है कि भाई और स्त्रीके साथ साधारण मनुष्योंके समान आपका वनमें रहना किसीको अच्छा नहीं लगता, तब वह मुझे कैसे अच्छा लग सकता है। आपके द्वारा त्याग होनेके कारण हमलोग तो मारे ही गये। अब हमलोग पापिन कैकेयीके अधीन रहेंगे और दुःख उठावेंगे। (श्लोक १६, १९) अयोध्या नगरी आपके वियोगसे पुत्रशोकसे दुःखिनीके समान है। उस नगरीमें आपके बिना मैं कैसे जा सकूँगा? पहले लोगोंने मेरे रथको आपसे युक्त देखा है, अब वे बिना आपके उस रथको देखेंगे तो वह समस्त नगरी दुःखसे विदीर्ण हो जायगी, दीन-दुःखिनी हो जायगी, जिस प्रकार रणमें वीर मारा जाय और सारथिमात्र ही बचा रहे ऐसी अपनी सेनाको देखनेसे दुःख होता है। आप अयोध्याकी प्रजाके मनमें सदा रहते हैं, अतः आज आपके बिना रथ लेकर जब मैं जाऊँगा तब वह निराहार रहकर अपने प्राण देनेको तैयार हो जायगी। आपके प्रस्थानके समय जो शोक और दुःखका उन्होंने प्रकाश किया था वह आपने देखा ही है। रथको आपसे खाली लौटा देखकर वे उससे सैकड़ों गुना आर्तनाद करेंगे। (श्लोक ३९—४४। यह प्रजाके सम्बन्धसे यत्न किया) मैं देवी कौसल्यासे क्या कहूँगा? क्या मैं उनसे कहूँगा कि मैं आपके पुत्रको मामाके यहाँ पहुँचा आया, आप दुःख न करें? इस असत्य वचनको तो मैं कहूँगा ही नहीं और जो सत्य है उस अप्रियको मैं कैसे कहूँगा?—**'कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः।'** (४६) (श्लोक ४५-४६ में माताके सम्बन्धसे यत्न किया) ये घोड़े आपके बान्धवोंको ही ले चलते हैं। जब आप कोई इसपर न रहेंगे तब ये रथ कैसे ले जायँगे। (यह श्लोक ४७ में घोड़ोंके सम्बन्धसे यत्न किया।) अतएव अपने साथ वनमें चलनेकी आज्ञा आप मुझे दें—**'वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि।'** (४८)····मैं वनमें आपकी तपस्याके समस्त विघ्नकर्त्ताओंको दूर करूँगा। ये घोड़े वनवासी आपकी सेवा कुछ कर सकें तो इनको भी सुख होगा। वनवासकी अवधि पूरी होनेपर मैं इसी रथपर आपको अयोध्या ले चलूँ, यह मेरी अभिलाषा है। जैसे आपने मुझे अपना सारथी बनाकर सुख दिया वैसे ही साथ लेकर वनवासका भी सुख दीजिये। राजपुत्रने जिस मार्गका ग्रहण किया है उसी मार्गपर भृत्यको रहना चाहिये। मैं आपका सबसे अधिक भक्त भृत्य हूँ। आपको मेरा त्याग नहीं करना चाहिये। (श्लोक ४८ से ५८ तक अपने सम्बन्धसे प्रयत्न किया। और यह भी कहा कि यदि आप मेरा त्याग करेंगे तो मैं आपके सामने रथसमेत अग्निमें प्रवेश करूँगा।—**'सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इव त्वया।'** (४९)

नोट—४ *'उचित उतर रघुनंदन दीन्हे'* इति। (क) श्रीरघुनाथजीने कहा कि मैं आपकी श्रेष्ठ स्वामिभक्तिको जानता हूँ। सुनिये, जिस लिये मैं आपको यहाँसे अयोध्या भेज रहा हूँ। (१) जब आप यहाँसे लौट जायँगे तब मेरी छोटी माता कैकेयीको विश्वास हो जायगा कि रामचन्द्रजी वनको गये—**'कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः।'** (६१) (२) देवी कैकेयी संतुष्ट हो जायँगी और धार्मिक राजाके मिथ्यावादी होनेकी शंका न करेंगी—**'राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम्।'** (६२) (३) सबसे प्रधान उद्देश्य भेजनेका यह है कि माता कैकेयी अपने पुत्र भरतके द्वारा अच्छी तरह शासित पुत्रराज्य पावें। (४) मेरी और राजाकी प्रसन्नताके लिये आप अयोध्या जायँ और जिसके लिये जो सन्देश कहा है उससे वह सन्देश जाकर कहें। (श्लोक ६३, ६४) रथको साथ लेकर वनमें साथ जानेको जो कहा है उसके उत्तरमें रघुनाथजीने कहा कि (५) गङ्गातीर एक ही रथपर जानेकी आज्ञा हमने स्वीकार की है। (श्लोक १४) मानसके अनुसार पिताने सुमन्त्रजीसे इतना ही कहा है कि *'रथ चढ़ाइ देखराइ बन', 'बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई'* और *'फिरहु गएँ दिन चारि।'* (८१) इससे सुरसरितक ही रथपर ले जानेकी आज्ञा आपको पिताने दी है। अतः आगे हम रथपर नहीं चढ़ेंगे। गङ्गास्नान करानेके बाद आपको लौटानेकी आज्ञा दी है। गङ्गा-स्नान हो चुका। आगे जानेकी आपको आज्ञा नहीं है। आज चार दिन हो रहे हैं, पिता कल आपकी

राह देखेंगे; अतः आपका लौटना आवश्यक है। उनकी आज्ञाके विरुद्ध मैं आपको साथ कैसे ले जा सकता हूँ? (६) राजा वृद्ध हैं, शोकसे अत्यन्त पीड़ित हैं, आप वहाँ जाकर वही करें जिससे वे शोकसे दुःखी न हों। आपके समान उनका और मेरा कोई सुहृद् इस समय नहीं है। राजाको ऐसी अवस्थामें छोड़ना आपको उचित नहीं है। (७) आपको लौटानेके लिये भेजा था, साथ जानेके लिये नहीं। हमने अपने न लौटनेका कारण बता ही दिया।

नोट—५ यहाँ 'रघुनन्दन' पद साभिप्राय है। रघुनन्दनका अर्थ है 'रघुकुलको आनन्द देनेवाला'। उचित उत्तर दिया कि मेरे लौटनेसे अवधको, विशेषतः रघुकुलको, आनन्द न होगा किंतु वह अधःपतित हो जायगा, सदैवके लिये उसका आनन्द नष्ट हो जायगा; इस सम्बन्धसे 'रघुनन्दन' पद बड़ा सार्थक है। (मिश्रजी) पुनः भाव कि अयोध्याको लौट जानेसे केवल दशरथादिको आनन्द होगा। पर पित्राज्ञाभङ्ग, प्रतिज्ञाभङ्ग और असत्यादि दोषोंसे महाराज रघु आदि समस्त पूर्वजोंको दुःख होगा। अतः भक्तोंको और दशरथजीके समस्त पूर्वजोंको आनन्द देना अधिक श्रेयस्कर है, इससे ही रघुनन्दन नाम चरितार्थ होगा। (प० प० प्र०) ऐसा समझकर उचित उत्तर देनेमें 'रघुनन्दन' नाम दिया।

मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई॥७॥
राम लषन सिय पद सिरु नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूरु गँवाई॥८॥

शब्दार्थ—**मूरु**=मूल, जमा, पूँजी।

अर्थ—श्रीरामजीकी आज्ञा मेटी नहीं जा सकती। कर्मकी गति कठिन है, कुछ बस नहीं चलता॥७॥ श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीके चरणोंमें मस्तक नवाकर (सुमन्त्रजी ऐसे) लौटे जैसे बनिया मूल गँवाकर घर लौटे॥८॥

टिप्पणी—१ (क) ***'मेटि जाइ नहिं राम रजाई'***—भाव कि श्रीरामजीकी आज्ञा अपेल है, उल्लंघनीय नहीं है। यथा—***'राम रजाइ सीस सबही के'*** (२५४।८) (यह वसिष्ठवाक्य है), ***'राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥'*** (२९८।७) (यह श्रीभरतजीका वाक्य है), ***'प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।'*** (५।५९) (यह सागरका वचन है) अतः सुमन्त्रजी आज्ञाका उल्लंघन न कर सके। (ख) ***'कठिन करम गति'''''*** '—कर्मकी गति कठिन है, कर्मभोग बिना भोगे नहीं छूटता। इस कथनका भाव यह है कि साथ छूटनेसे अत्यन्त दुःख हो रहा है, मृत्युका योग लगा है तो भी प्राण नहीं निकलते, यह क्यों? क्योंकि कर्मभोग शेष है। उसे भोग करना है (पु० रा० कु०)। (ग) ***'राम लषन सिय पद सिरु नाई'***—इससे सुमन्त्रजीकी तीनोंमें भक्ति दिखायी।

'बनिक जिमि मूरु गँवाई'

टिप्पणी—२ जैसे कोई बनिया पराई भरती अर्थात् दूसरेसे माल लेकर रोजगार करने चले इस शर्तपर कि मूल ब्याज तुमको (मालिक मालको) देंगे और नफा हमारा होगा और राहमें मूलका ही नाश हो जाय—जैसे जहाज डूब जाने या चोरी आदि हो जानेसे—तो जैसे वह बनिया माल अर्थात् जमा रकम ही मारी जानेसे व्याकुल हो, वैसे ही सुमन्त्रजी व्याकुल हुए। यहाँ महाराज दशरथजी मालिक हैं। उन्होंने कहा था कि मिथिलेशकिशोरीको फेर लानेका उपाय करना, उनके लौटनेसे प्राण रह सकेंगे, अतएव जानकीजी यहाँ मूल ठहरीं। मन्त्रीको पूर्ण विश्वास था कि ये तो अवश्य लौट आवेंगी और हो सका तो दोनों भाइयोंको भी लौटा लावेंगे—दोनों भाई ब्याज और नफा हुए। सो कोई भी न लौटा, जानकीजी भी गयीं। दशरथजी मालिक माल जब सुनेंगे कि वणिक् सुमन्त्र मूलका माल भी खो आया तो वे प्राण ही दे देंगे।

बाबा हरिदासजी—बनिया जब व्यापारको जाता है तो जब कभी वह लाभसहित फिरता है तब उसे बड़ा आनन्द होता है और जब किसी कालमें मूल ही लेकर लौटता है तब विस्मय-हर्ष-रहित रहता है। पर जब घरकी जमा ही खोकर लौटता है तब उसे बड़ा दुःख होता है। वैसा ही सुमन्त्रजीका हाल हुआ। यदि तीनोंको साथ लेकर लौटते तो नफासहित लौटते और जो सीताजीको ही लेकर लौटते तो

मूलसहित फिरना कहा जाता, उस अवस्थामें भी बड़ा दुःख न होता। पर यहाँ तीनों वनको गये, इसीसे मूर गँवाकर लौटना कहा और सुमन्त्रजीको बड़ा दुःख हुआ।

श्रीनंगे परमहंसजी—यहाँ बनिक कहनेका भाव यह है कि 'जिसको थोड़ा धन होता है उसको बनिक कहते हैं और बहुत धनवालेको साहूकार कहते हैं। अतः उस बनिकको थोड़े धनके कारण उस धनमें ममत्व हो गया था और उस धनको बचानेके हेतु परदेश गया था कि रोजगार करके मुनाफेसे अपना गुजर करेंगे और जो (मूलधन) है उसको बचायेंगे। उसी बनिकके धनकी तरह सुमन्त्रजीको श्रीरामजी, जानकीजी और लखनलाल इन तीनों मूर्तियोंमें ममत्व हो गया है। अतः उस धनकी तरह इन तीनोंको वनसे बचानेके लिये और मुनाफारूप उन्हींको लौटा लानेका सुयश प्राप्त करनेके लिये परदेशरूप शृङ्गवेरपुर आये थे; परंतु जैसे बनिक मूल गँवाकर दुःखाकुल लौटा उसी प्रकार सुमन्त्र तीनों मूर्तियोंके न लौटनेसे दुःखाकुल लौटे। इस बनिककी उपमासे सुमन्त्रमें चार बातें सूचित की गयी हैं—(१) श्रीरामजी इत्यादिमें प्रीति। (२) उन्हें अवधमें रखना। (३) सुयश-प्राप्तिकी इच्छा। (४) वन चले जानेसे दुःख।

'टिप्पणीमें जो अर्थ दिया है कि 'जैसे कोई बनिया पराई भरती अर्थात् दूसरेसे माल लेकर रोजगार करने चले। मालिक माल दशरथजी हैं' ऐसा अर्थ करना अनर्थ है, क्योंकि मूलके कोई शब्द बनिकके लिये पराई भरती या दूसरेसे माल लेकर रोजगारको जाना नहीं कह रहे हैं। अब यदि कहिये कि मूलधन श्रीरामजी, जानकीजी, लक्ष्मणजी हैं और मालधनी राजा हैं तो यहाँ राजाको कोई शब्द मालधनी सूचित नहीं कर रहा है, क्योंकि बनिक शब्द उपमामें है, सुमन्त्र उपमानमें हैं, राजाका कोई भी जिक्र नहीं है। यदि कहिये कि राम, जानकी, लक्ष्मण सुमन्त्रके पुत्र नहीं हैं तो यहाँ उपमा सुमन्त्रका ही पुत्र बना रही है, क्योंकि उपमाकी बात उपमानमें लगायी जाती है न कि उपमानकी बात उपमामें। अतः यहाँपर उपमासे राम, जानकी सुमन्त्रके लड़के और बहू बनाये जा रहे हैं कि जो बनिक अपने मालसे रोजगार करने गया था वही मूर गँवाकर फिरा है। जानकीजीको मूल और दोनों भाइयोंको सूद लिखना नायोग्य और नासमझी है। क्योंकि ग्रन्थमें मूल शब्द तीनों मूर्तियोंमेंसे किसीको मूल और सूदके लिये तफसील नहीं करते। वास्तविकमें तीनों मूर्तियाँ मूल हैं और उनको लौटा लानेका यश सूद है। और जो जानकीजीको मूल इस बातपर सूचित करते हैं कि राजाने जानकीजीको लौटा लानेको कहा कि उनके लौटनेसे अवलम्ब हो जायगा तो यह बात गौणपक्षमें कही थी कि जब दोनों भाई न फिरें तब श्रीरामजीकी सिफारिशसे उनको फेर लाना। राजाके प्राणाधार श्रीरामजी हैं और जानकीजी तो प्राणका अवलम्बमात्र हैं।…राजाने तीनोंको लौटानेको कहा था, अतः तीनों मूल हैं। सुमन्त्रको राजाके इस वचनसे श्रीरामजीके फिरनेका विश्वास हो गया था कि *'लषन राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥'* किंतु जानकीजीके फिरनेका कैसे विश्वास हो सकता है क्योंकि वे पतिव्रता हैं।…राजाके कहनेका धर्म है सो उन्होंने कहा था।

श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि जो कोई तीनों मूर्तियोंको मूल कहते हैं और तीनोंके लौटानेके सुयशको ब्याज कहते हैं, उन्हें मूलमात्र लेकर लौटनेका उपमेय कहाँसे आवेगा? क्योंकि तीनोंके लौटानेसे तो सुमन्त्रको सुयश होगा ही। यदि कहा जाय कि ब्याज कहनेसे दोनों भाइयोंके प्रति लघुता आती है तो *'भइ गति साँप छछूँदर केरी।'* (दो० ५४) *'चले जहाँ रावन ससि राहू।'* (अ० २७) में क्या उपाय है? वस्तुतः उपमाके धर्मसे कविका प्रयोजन रहता है और बातें मिलें, चाहे न मिलें वैसे यहाँ सुमन्त्रजीकी व्याकुलता दिखाना ही कविका प्रयोजन है।

चलते समय सुमन्त्रके प्रति राजाके वचनोंमें दो पक्ष हैं—उत्तम हो जब तीनों लौट आवें। दोनों भाई न लौटें और यदि श्रीजानकीजी ही लौट आवें तो मेरे प्राणोंका सहारा हो जाय, नहीं तो मेरा मरण ही होगा। राजाने कहा था कि श्रीसीताजी भीरु हैं, वन देखकर डरेंगी तो कहनेसे अवश्य लौटेंगी; यही सुमन्त्रजीकी दृढ़ता है। जैसे बनियेको मूलमें दृढ़ता रहती है कि यह तो अपने हाथमें है। सत्यसन्ध दृढ़व्रत और धीर होनेसे दोनों भाइयोंके लौटानेकी कम आशा है। अतः इनका लौटाना लाभ लाना है। वैसे ही सुमन्त्रजीने

यहाँ सन्देसा कहा। दोनों भाइयोंसे उत्तर पाया, तब केवल श्रीजानकीजीको कहा। जब वे भी न लौटीं तब मूलका भी गँवाना कहा गया।'

नोट—स्मरण रहे कि राजाको स्वयं श्रीरामलक्ष्मणजीके लौटनेमें सन्देह था, जैसा *'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥'* से स्पष्ट है। सुमन्त्रजी भी जानते हैं कि श्रीरामजी सत्यसन्ध, दृढ़व्रत हैं, कैकेयीसे प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

प० प० प्र०—वणिक् बिना नफाके भी लौटता है तो भी दुःख, लज्जा आदिका अनुभव करता है और जब नफा तो अलग रहा मूल भी खोकर आया तब तो उसे मरणप्राय दुःख होता है। जन-उपहास, स्वजातिमें अपमान, पश्चात्ताप आदिका उसे सामना करना पड़ता है। वही दशा सुमन्त्रकी हुई, यह आगे १४४ (३) से १४६ दोहेमें स्पष्ट है।

दो०—रथ हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिषाद बस धुनहि सीस पछिताहिं॥ ९९॥
जासु बियोग बिकल पसु ऐसें। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसें॥ १॥
बरबस राम सुमंत्रु पठाए। सुरसरि तीर आपु तब आए॥ २॥

शब्दार्थ—तीर=किनारा, तट। बियोग=बिछोह, जुदाई। तन=ओर, तरफ। दो० १०० देखिये।

अर्थ—सुमन्त्रजीने रथ हाँका। घोड़े श्रीरामजीकी ओर देख-देखकर हिनहिनाते हैं। (घोड़ोंकी यह दशा) देखकर सब निषाद दुःखके वश होकर सिर पीटते और पछताते हैं॥ ९९॥ (कि)—जिसके वियोगमें पशु ऐसे व्याकुल हैं उसके वियोगमें प्रजा और माता-पिता कैसे जीते रहेंगे?॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीने हठात् सुमन्त्रको लौटाया और तब आप गङ्गातटपर आये॥ २॥

रा० प्र०—*'राम तन'* अर्थात् रामजीके शरीरको देख-देखकर हिनहिनानेका भाव कि सुमन्त्रजीसे विनती करते हैं कि इस साँवली मूर्तिसे वियोग न कराओ। घोड़ोंकी दशा दोहा १४२ में कही गयी है—*'देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥ नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि। ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥'* (१४२) *'……चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहु आनि रथ जोरे॥'* इत्यादि।

पुनः गीतावलीमें माता कौसल्याजीकी उक्ति—*'राघौ एक बार फिरि आवौ। ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बनहिं सिधावौ॥ जे पय प्याइ पोषि कर पंकज बारबार चुचुकारे। क्यों जीवहिं मेरे राम लाडिले ते अब निपट बिसारे॥ भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे। तदपि दिनहुँ दिन होत झाँवरे मनहुँ कमल हिम मारे॥ सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन कहियो मातु सँदेसो। तुलसी मोहिं और सबहिन ते इन्हको बड़ो अँदेसो॥'* (२। ८७)

मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥ ३॥
चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥ ४॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥ ५॥
तरनिउँ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥ ६॥

शब्दार्थ—तरनिउँ=तरणी भी, नाव भी। घरनी=घरवाली, स्त्री। बाट=मार्ग, रास्ता। बाट पड़ना—यह देहाती मुहावरा है। अर्थात् राह मारी जाना, डाका पड़ना; हरण होना, 'रहजनी' इसका ठीक उल्था-सा है।

अर्थ—श्रीरामने केवटसे नाव माँगी, वह न लाया और कहने लगा कि मैंने आपका मर्म (भेद) जान लिया है, (धोखेमें नहीं आनेका)॥ ३॥ आपके चरणकमलोंकी धूलिके बारेमें सभी कहते हैं कि यह मनुष्य बनानेकी कोई जड़ी है॥ ४॥ (जब) शिलाको छूते ही वह सुन्दर स्त्री हो गयी (तो फिर)

लकड़ी तो पत्थरसे कठोर नहीं होती॥ ५॥ मेरी नाव भी मुनिपत्नी हो जायगी। (और जैसे अहल्या गौतमके साथ पतिलोकको गयी वैसे ही) मेरी नाव उड़ जायगी तो मेरी जीविका ही मारी जायगी॥ ६॥

नोट—*'माँगी नाव न केवटु आना।…'* इति। कवितावलीमें केवटने इस प्रसंगको खूब कहा है। मिलान कीजिये—*'नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव बूड़त काढ़े। जो सुमिरे गिरि मेरु सिलाकन होत अजाखुर बारिधि बाढ़े॥ तुलसी जेहि के पद पंकज ते प्रकटी तटनी जो हरै अघ गाढ़े। सो प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढे॥'* (२। ५) *'यहि घाट ते थोरिक दूरि अहै कटिलौं जल थाह देखाइहौं जू। परसे पगधूरि तरे तरनी घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥ तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू। बरु मारिये मोहिं बिना पग धोये हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥'* (२। ६)

श्रीसूरदासजीके भी पद इस प्रसंगसे मिलते हैं। अतः वे भी उद्धृत किये जाते हैं—(१) *'ले भैया केवट उतराइ। रघुपति महाराज इत ठाढ़े तैं कत नाउ दुराइ॥ जबहिं सिला ते भई देव गति जबही चरन छुवाइ। हौं कुटुम्ब कैसे प्रतिपालौं वैसी यह ह्वै जाइ॥ जाके चरन रेनुकी महिमा सुनियत अधिक बड़ाइ। सूरदास प्रभु अगनित महिमा बेद पुराननि गाइ॥'* (२५) *'नवका नाही हौं लै आउँ। प्रगट प्रताप चरनको देख्यौं ताहि कहाँ लौं गाउँ॥ कृपासिंधु पै केवट आयो कंपत करत जु बात। चरन परसि पाषान उड़त है मम बेरी उड़ि जात॥ जौ यह बधू होइ काहू की दार सरूप धरै। छूटत देह जाइ सरिता तजि पग सों परस करै॥ मेरी सकल जीविका यामें रघुपति मुक्ति न कीजै। सूरदास चढ़ियौ प्रभु पीछे रेनु पखारन दीजै॥'* (२६) *'मेरी नवका जिन चढ़ो त्रिभुअनपति राइ। मो देखत पाहन उड़े मेरी काठ की नाइ॥ मैं खेबी ही पारको तुम उलटि मँगाइ। मेरो जिय यौंही डरै मत होइ सिलहाइ॥ मैं निरबल मेरे बल नहीं जौ और गढ़ाउँ। मम कुटुम्ब याही लग्यो ऐसी कहाँ पाउँ॥ मैं निरधन मेरे धन नहीं परिवार घनेरा। सेमर ढाक पलास काटि तुम बाँधो बेरा॥ बार बार श्रीपति कहैं झीवरा नहीं मानै। मन परतीति न आवहि उडतिहि जानै॥ नेरे ही जल थाह है चलो तुम्हें बताउँ। सूरदास की बेनती नीके पहुँचाउँ॥'* (२७) (रा० प्र०)

अ० रा० में इनसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—**'क्षालयामि तव पादपङ्कजं नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्। मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥'** (१। ६। ३) **'पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा पश्चात् परं तीरमहं नयामि। नो चेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः॥'** (४) अर्थात् यह कथा प्रसिद्ध है कि आपके चरणोंमें मनुष्य बना देनेवाला कोई चूर्ण है। शिला और काष्ठमें भेद ही क्या है ? अतएव मैं आपके चरणोंको धोऊँगा। इस प्रकार चरणकमलोंको मल (रज) रहित करके तब आपको पार ले चलूँगा। नहीं तो यदि आपके चरणरजके स्पर्शसे मेरी नौका सुन्दर युवती हो गयी तो मेरे कुटुम्बकी जीविका ही मारी जायगी।

☞इन उद्धरणोंको मानसकी चौपाइयोंका भाव ही समझिये।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'माँगी नाव न केवट…मैं जाना'* इति। सुमन्त्रको उनकी इच्छाके प्रतिकूल भेजकर सरकार आ रहे हैं, कुछ अनमनेसे हो रहे हैं, केवट उन्हें हँसाना चाहता है; अतः नावको किनारेसे हटा लेता है, माँगनेपर भी नहीं लाता है, कहता है कि तुम्हारा मर्म मैंने जान लिया है, तुम्हें पार नहीं जाना है, किसी मुनिको स्त्री प्रदान करना है। भाव यह है कि शृङ्गी ऋषिके नाते हँसी कर रहा है। श्रीगोस्वामीजीने कवितावलीमें और भी ऋषिपुत्रोंसे किये गये मजाकका वर्णन किया है, यथा—*'बिन्ध्यके बासी उदासी तपोब्रतधारी सदा बिनु नारि दुखारे। गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि बृन्द सुखारे॥ ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे। कीन्ही भली रघुनायकजू करुना करि काननको पग धारे॥'* (क० २। २८)

पाण्डेजी—रातमें लक्ष्मणजीने जो उपदेश दिया कि राम ब्रह्म हैं उसीसे उसने कहा कि *'मरम मैं जाना।'* (पाण्डेजी गुह और केवटको एक मानते हैं।)

प० प० प्र०—निषादराजने *'पाहरू प्रतीती। ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती॥'* उन्हींमेंसे यह केवट भी

एक था ऐसा मानना आवश्यक है। उसने लक्ष्मणजीके वचनों (श्रीलक्ष्मणगीता) में श्रीरामजीका मर्म अवतार-रहस्य सुन लिया था। अतः कहा कि *'तुम्हार मरम मैं जाना।'*

टिप्पणी—१ *'तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई।'''''* इति। मनुष्य बनानेकी जड़ी-बूटी है,यह कैसे जाना? उसपर कहता है कि पाषाणको रजका स्पर्श हुआ सो अहल्या बन गया, कदाचित् नाव भी अहल्या बन जाय। भाव यह कि स्त्री होकर मिल भी जाती तो भी कुछ संतोष होता (यद्यपि एकको पालनेका और बोझा सिरपर हो जाता) पर वह तो स्त्री होकर तुरत उड़कर मुनिके साथ चल देगी। *'मुनि घरिनी होइ जाई'* में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यङ्ग है।

नोट—१ आनन्दरामायणमें केवटका वचन है कि '**अस्ति मे गृहिणी गेहे किं करोम्यपरां स्त्रियम्**' अर्थात् मेरे एक स्त्री है ही मैं औरको क्या करूँगा? यह भाव भी सुसंगत है। भाव यह कि दो स्त्रियाँ होनेसे सवतियाडाहवाली विपत्ति और एक सिरपर पड़ जायगी।

किसीने कहा है—*'जोरि कै जुगल पानि केवट कहत बात जीविका आपनी कौन यतन बचाइहौं। नाथ पगधूरि को प्रभाउ जग जानत है, तरनी चढ़ाइ कै न धरनी रचाइहौं॥ एककी अधीनता अनेक दुःख दीनानाथ, दूसरी रखाइ गृह राढ़ न मचाइहौं मैं। सबही समेत नाव तब ही चढ़ैहौं जब, चरन पखारि चरनामृत अचैहौं मैं॥'* (रा० वा० दा० मालवी)

नोट—२ यदि रामजी कहें कि मुनिवधू शापसे शिला हुई थी, अतएव वह पुनः ज्यों-की-त्यों हो गयी। उसका उत्तर देता है कि कौन जानता है यह भी शापसे लकड़ी हुई हो। (पं०)

अलङ्कार—*'पाहन ते न काठ कठिनाई'* अर्थात् काठको तो मुनिपत्नी हुई ही समझो, यह काव्यार्थापत्ति अलङ्कार है।

☞अहल्याका उद्धार कहाँ हुआ, यह बात निश्चित नहीं होती। वाल्मीकीय, अध्यात्म और मानस तीनोंमें तीन बातें हैं। गोस्वामीजी जनकपुर-यात्राके समय गङ्गा-दक्षिण तटपर उद्धार होना कहते हैं और अध्यात्मसे भी यही सूचित होता है; पर अध्यात्ममें यह केवटका प्रसङ्ग अयोध्याकाण्डमें न होकर अहल्योद्धारके बाद ही बताया गया है। वाल्मीकिजीने अहल्योद्धार तिरहुतमें (गङ्गापार होनेपर) बताया है, उसमें यह केवटका प्रसंग नहीं है। जबतक तत्कालीन गङ्गा-सरयू एवं गङ्गा-सोनका संगम और इन नदियोंकी प्रवाहगति प्रमाणित न हो जाय तबतक उस स्थलका ठीक पता नहीं लग सकता। यहाँ केवटको अहल्योद्धारका पता कैसे लगा? इसपर बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि सूरदासजीने शृङ्गवेरपुरमें अहल्याका उद्धार होना लिखा है—*'गंगातट आए श्रीराम। तहाँ पषानरूप पग परसी गौतम रिषिकी बाम॥ गई अकाश देवतन धरिकै अति सुंदर अभिराम। सूरदास प्रभु पतित उधारन बिरद कितक यह काम॥'* (२४)

बाबा रामचरणदासजी एवं श्रीरामबख्श पाण्डेजीने अध्यात्मकी कथा और मानसके इस प्रसङ्गका समाधान करनेके लिये 'केवट' और 'निषादराज सखा' को एक ही माना है। पर इसमें भी बहुत शङ्काएँ उठती हैं। मानससे केवट और सखाका दो ही होना अधिक सङ्गत जान पड़ता है। क्योंकि आगे १०२ (१। २) में लिखते हैं कि *'उतरि ठाढ़ भये सुरसरि रेता। सीय राम गुह लषन समेता॥'*, *'केवट उतरि दंडवत कीन्हा'*—यहाँ निषादराजका उतरना पहले ही कहा गया और सबके पीछे केवटका। फिर दोहा १०२ में केवटका बिदा होना लिखा है *'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ।'* और निषादराज तो साथ ही गये हैं। फिर केवटने आगे कहा है कि *'फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेबा॥'*—ये वचन निषादराज कैसे कहेंगे? वे तो प्रभुके साथ जानेकी इच्छासे सङ्ग हुए हैं जैसा उनके *'नाथ साथ रहि पंथ देखाई।''''''जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥'* (१०४। २—५) से स्पष्ट है। फिर केवट तो नाव चलाना ही अपना उद्यम बताता है—*'नहिं जानउँ कछु अउर कबारू।'*(१००। ७) *'बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥'* (१०२। ६) ये वचन निषादराजके मानना असङ्गत हैं। इत्यादि।

अध्यात्मरामायणमें निषादराजका स्वयं नाव लाना और अपने कुटुम्बियोंके साथ स्वयं उसे खेना लिखा है—'**उवाच शीघ्रं सुदृढां नावमानय मे सखे। श्रुत्वा रामस्य वचनं निषादाधिपतिर्गुहः॥१७॥ स्वयमेव दृढां नावमानिनाय सुलक्षणाम्। स्वामिन्नारुह्यतां नौकां सीतया लक्ष्मणेन च॥१८॥ वाहये ज्ञातिभिः सार्धमहमेव समाहितः।****गुहस्तान्वाहयामास ज्ञातिभिः सहितः स्वयम्॥**' (२१) (सर्ग ६) इससे संगत करनेके लिये लोगोंने गोस्वामीजीके केवटको गुह कहनेकी चेष्टा की है। पर एक न होनेमें आपत्ति क्या? व्यर्थ शङ्काएँ क्यों?—'***कल्प भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥***'

बाबू रणबहादुरसिंहकी टीकासे जान पड़ता है कि केवटका प्रसंग आनन्दरामायण और वशिष्ठरामायणमें भी है। चाहे कविने यह प्रसंग वहींसे लिया हो। पर उनकी टीका अप्रामाणिक है, उसमें अधिकांश श्लोक पण्डितोंके गढ़े हुए हैं। कौन प्रामाणिक हैं, इसका पता लगाना कठिन है। आनन्दरामायणमें केवटका प्रसंग है पर अ० रा० की तरह वह मिथिलायात्राके समय है।

एहि प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानौं कछु अउर कबारू॥७॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥८॥
छंद—पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहों।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहों॥
बरु तीर मारहु लषन पै जब लगि न पाइ पखारिहों।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहों॥
सो०—सुनि केवट के बयन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुनाअयन चितइ जानकी लषन तन॥१००॥

शब्दार्थ—अउर=और। **कबारू**=उद्यम, धंधा, व्यापार, लेनदेन। यथा—'***मागध सूत भाट नट जाचक जहँ तहँ करहिं कबार।***' (गी० १। २। २१) **उतराई**=पार उतारनेकी मजदूरी। आन=शपथ, सौगन्ध। **अटपटे**=बेढंगे, जटिल, बेमेल, अनोखे, गूढ़, गँवारू, टेढ़े, उटपटांग। यह संस्कृत अट (=चलना)+ पत् (गिरना) से बना जान पड़ता है। यथा—'***जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी॥***' (१।१३४। ६)

अर्थ—इसीसे मैं सब कुटुम्बका पालन-पोषण करता हूँ, और कोई उद्यम नहीं जानता॥७॥ हे प्रभो! यदि आप अवश्य पार जाना ही चाहते हैं तो मुझे चरणकमलोंको धोनेकी आज्ञा दीजिये॥८॥ हे नाथ! मैं चरणकमल धोकर नावपर आपको चढ़ाऊँगा, आपसे उतराई नहीं चाहता। हे राम! मुझे आपकी सौगन्ध है और दशरथमहाराजकी कसम है, मैं सब सत्य-सत्य कह रहा हूँ। चाहे लक्ष्मणजी तीर भले ही मारें पर जबतक आपके चरण न धो लूँगा तबतक हे तुलसीदासके स्वामी! हे कृपालु! मैं पार न उतारूँगा। केवटके प्रेमसे लपेटे हुए अटपट वचन सुनकर, करुणानिधान रामचन्द्रजी जानकीजी और लक्ष्मणजीकी तरफ देखकर हँसे॥१००॥

नोट—१ (क) '***एहि प्रतिपालउँ****कबारू,***' यथा—'***तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।***' (क० २।६) भाव यदि मैं नाव खेना छोड़ अन्य कोई व्यापार जानता होता तो चिन्ता न होती, नाव मुनिपत्नी बनकर उड़ जाती तो दूसरा उद्यम कर लेता, पर मैं दूसरा उद्यम जानता ही नहीं; अतः मेरे लड़के-बाले भूखे मर जायँगे। (ख) '***जौं***' '***अवसि गा चहहू***' में भाव यह है कि वस्तुतः आप पार जानेको नहीं हैं, आप तो किसी मुनिके लिये पत्नी बनानेकी ताकमें हैं। यदि सत्य ही पार जानेकी इच्छा है तो केवल चरणकी रज धोने देनेमें क्यों शङ्का करते हैं? यह कौन बड़ी बात है, जल लाकर मैं चरणोंकी रजको दूर कर दूँ, बस नावके मुनिपत्नी होनेकी शंका न रह जायगी। (ग) वेदान्तभूषणजीका मत है कि—धोने और पखारनेमें भेद है। पग धोना एक साधारण काम है, परिचारक एवं सामान्य लोग भी

चरण धो सकते हैं। परन्तु पद पखार वे ही सकते हैं जिनके साथ असाधारण रूपसे किसीका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जैसे, जनकजीने श्रीरामजीके चरण पखारे और पश्चात् धोये भी। दशरथ आदिके पद पखारे ही, धोये नहीं। इसीसे दृढ़ सम्बन्ध हो जानेके बाद उनको बिदा कर दिया। श्रीरामजीके चरण पखारे और फिर धोये भी—*'पाय पुनीत पखारन लागे।'* (१।३२४।८) *'लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली', 'बहुरि राम पद पंकज धोए।'* (१।३२८।५) इसीसे विवाहके समय *'हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्रीसागर दई।'* (१।३२४) ये दो उपमाएँ देकर जनाया कि जैसे शिवजी विवाह करके सपत्नीक अपने घर चले गये, वैसे ही श्रीरामजी अपने असली रूपसे अवध चले गये और जैसे भगवान् श्रीजीको लेकर ससुरालमें ही रह गये वैसे ही श्रीरामजी अर्धांशरूपसे मिथिलामें रह गये। पुनः (२) दूसरा भेद यह है कि धोनेकी क्रिया अकेले होती है और पखारनेकी क्रिया सपरिवार की जाती है। शबरीजी परिवाररहित थीं अतएव उन्होंने आदरको अपना साथी बनाया—*'सादर जल लै पाँव पखारे।'*—[*'धोये'* शब्द राजा दशरथ और श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजीके साथ भी ठीक उसी स्थानपर आया है जहाँ श्रीरामजीके लिये। —*'धोये जनक अवधपति चरना। सील सनेहु जाइ नहिं बरना॥' 'बहुरि राम पद पंकज धोए।……' 'तीनिउ भाइ राम सम जानी। धोये चरन जनक निज पानी॥'* (१।३२८।४—६) (मा० सं०)]

नोट—२ *'पदकमल धोइ चढ़ाइ नाव……'* इति। (क) धो लेनेपर तो फिर शङ्का न करेगा? उसपर कहता है *'चढ़ाइ नाव'* कि चरण धोनेके बाद फिर पृथ्वीपर न चलने दूँगा, मैं पैर धोकर तुरत अपने कंधेपर उठाकर बिठा लूँगा और नावपर चढ़ा दूँगा जिसमें नावपर चढ़नेके पहले फिर कहीं रज न लग जाय। (पु० रा० कु०) (ख) *'नाथ न उतराई चहों'*—केवट लोग उतराई लेनेके लिये पार उतारनेमें विलंब किया करते हैं, उसपर कहता है कि मैं उतराई नहीं चाहता, अतः तुरत पार पहुँचा दूँगा। पुनः, आप राजा हैं, मैं प्रजा हूँ, अतः यह सेवा मैं शीघ्र करूँगा, अथवा आप उदासी वेषमें हैं इससे मैं उतराई न माँगूँगा और तुरत पार उतार दूँगा। पंजाबीजी लिखते हैं कि उतराई नहीं चाहता, यह केवटकी चतुरता है। भाव कि धर्मशास्त्रानुसार मल्लाह मल्लाहसे उतराई, नाऊ नाऊसे बाल बनवाई, ठठेर ठठेरसे बदलाई, इसी तरह और भी एक पेशावाले अपने पेशेवालेसे कर-मूल्य नहीं लेते, तो मैं कैसे लूँ? हमारा-तुम्हारा एक पेशा है, तुम भवसागरसे पार करते हो, मैं गङ्गा-पार करता हूँ, जब मैं आपके घाटपर आऊँ तब आप मुझे पार कर दीजियेगा। (यह भाव ऐश्वर्य पक्षमें है।)

नोट—३ *'मोहिं राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहों'* इति। इस तरहकी शपथमें प्रायः पिताका नाम न लेकर यों शपथ की जाती है कि तुम्हारी और तुम्हारे बाप-(पिता-) की सौगन्ध है। पर गोस्वामीजीने ऐसा न करके *'दसरथ सपथ'* पद दिया है। लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि गुसाईंजीने ग्राम्यदोष बचानेके लिये 'बापकी कसम' को इस तरह व्यक्त किया है।

यहाँ श्रीरामजी और दशरथमहाराज दोनोंकी शपथ करके अपनेको सत्यप्रतिज्ञ होना निश्चय कराता है। श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़व्रत हैं, यथा—*'जो नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई॥'* (८२। १) आपने कैकेयीसे कहा था कि *'जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा॥'* और पिताका सत्य रखनेके लिये राज्यका त्याग करके वनवास स्वीकार किया। और राजा ऐसे सत्यप्रतिज्ञ कि अपना सत्य रखनेके लिये अपने प्राणप्रिय पुत्र और प्राणोंका त्याग किया, यथा—*'राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपन लागी॥ तासु बचन मेटत मन सोचू॥'* (२६४। ६-७) भाव यह कि जैसे आप दृढ़व्रत हैं वैसे ही मैंने भी दृढ़ प्रतिज्ञा की है कि बिना चरण धोये नावपर न चढ़ाउँगा, जैसे महाराजने सत्य न छोड़ा वैसे ही मैं सत्य नहीं छोड़नेका, जो कहता हूँ यही करूँगा, चाहे मेरे प्राण चले जायँ। (पं० रा० कु०)

पाँडेजी कहते हैं कि—(क) सत्यवादी राजाकी मैं प्रजा हूँ। अतएव मैं भी सत्य ही बोलता हूँ। मैं उतराई नहीं चाहता यह सत्य जानिये, अथवा, (ख)—जो आप जोराबरी किया चाहें तो मैं राजा दशरथकी दुहायी करता हूँ।

नोट—४ *'बरु तीर मारहु लषन'''* इति। उसके वचन सुनकर, ऐसा जान पड़ता है कि लक्ष्मणजीको क्रोध आ गया, उन्होंने बाणकी ओर ताका—उनकी चेष्टा देख उसने कहा कि *'बरु तीर मारहु'* अर्थात् हे लक्ष्मणजी! चाहे तुम तीरसे मुझे मारो। (पं० रा० कु०) [नोट—'मारहु' का अर्थ 'मारें' भी होता है जैसा बहुत स्थलोंपर प्रयोग हुआ है। जैसे कि—*'आपु अछत जुबराज पद रामहि देउ नरेसु॥'* (१) में देउ=देवें; *'पुनि न सोचु तन रहउ कि जाऊ।'* (२।४।५) में रहउ=रहे, जाऊ=जाय; *'होउ नात यह ओर निबाहू।'* (२४।६) में होउ=होवे; *'लषन राम सिय जाहु बन भल परिनाम न पोचु।'* (२८२) में जाहु=जायँ; *'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि रामु करहु जुबराजा॥'* (२७३।७) में बसउ=बसै और करहु=करें। इत्यादि। इस तरह ये वचन श्रीरामजीके प्रति ही समझे जायँगे और प्रसङ्गानुकूल भी यही ठीक जान पड़ता है। पर गौड़जीका मत है कि जब उसने रामजी और दशरथजीतकका शपथ किया तो उसकी इस ढिठाईपर श्रीलक्ष्मणजीने क्रोधसहित अपने बाणकी ओर देखा। इसीपर केवट लक्ष्मणजीसे ही कहता है। श्रीत्रिपाठीजीका मत है कि श्रीलक्ष्मणजीको हँसानेके लिये उनके रामप्रेम तथा श्रीरामापमानासहन स्वभावपर कटाक्ष करता हुआ ये वचन श्रीरामजीसे कह रहा है। (विशेष आगे उनके टिप्पणमें देखिये।)]

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि *'जौं प्रभु अवसि''कहहू'* से यह जनाकर कि पदप्रक्षालन करनेको आप स्वयं कहें और पदप्रक्षालन कराके और दृढ़ सम्बन्ध करके असाधारणरूपसे मुझे अपनाकर तब आप पार जा सकते हैं, तब *'पदकमल धोइ''''न उतराई चहों'* कहनेका भाव यह है कि आप पद पखारनेको स्वयं न कहियेगा तो भी मैं जबरदस्ती धो लूँगा और गोदमें उठाकर नावमें बिठा लूँगा, उस हालतमें *'न उतराई चहों'* अर्थात् अपनी नावसे फिर कभी उतरने न दूँगा।*

नोट—५. *'तुलसीदास नाथ कृपाल'* इति। (क) यहाँ इस पदसे श्रीसीतारामलक्ष्मण तीनोंको सूचित कर दिया है—'तुलसी' से जानकीजी, 'दास' से लक्ष्मणजी और 'नाथ कृपाल' से रामचन्द्रजी। अर्थात् तीनोंमेंसे किसीको पार न उतारूँगा। पुनः, 'तुलसी' इसी एक शब्दमें तीनों आ जाते हैं—'तु'=तुरीय राम, 'ल'=लक्ष्मण और 'सी'=सीता। (वन्दनपाठकजी) तुलसीदासजी कलियुगमें हुए और केवट कह रहा है त्रेतायुगमें। भविष्यमें होनेवाली बात कहनेसे यहाँ 'भाविक अलङ्कार' है। मिलान कीजिये—*'सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदासके ईस।'* (१।१९६) कवियोंकी शैली है कि इस तरह भगवद्भक्तोंके मुखारविन्दद्वारा प्रभुसे अपना नाता दृढ़ कराते हैं।

'सुनि केवट के बयन प्रेम लपेटे अटपटे। बिहसे करुना अयन'

१—*'प्रेम लपेटे'* अर्थात् उनमें प्रेम छिपा हुआ है, प्रेमसे भरे हुए हैं। *'प्रेम लपेटे अटपटे'* अर्थात् वचन तो गँवारू हैं पर उनके भीतर प्रेम भरा हुआ है।

केवटकी आन्तरिक अभिलाषा प्रभुके चरणोदक लेनेकी है; पर वह अपनी अभिलाषाको स्पष्ट न कहकर इस बहानेसे चरण धोना चाहता है कि चरणरजके स्पर्शसे नाव मुनिपत्नी हो जायगी तो मैं कुटुम्ब कैसे पालूँगा। पुनः चरणोदक लिये बिना नावपर न चढ़ानेकी प्रतिज्ञा करनेमें वह अपने प्राणोंकी बाजी लगा रहा है कि चाहे लक्ष्मणजी मुझे मार क्यों न डालें पर मैं कदापि न चढ़ाऊँगा। साथ ही दशरथमहाराजकी शपथ करता है कि प्रतिज्ञा न छोड़ूँगा और कहता है कि पार उतारनेकी उतराई नहीं चाहता—ये वचन

* वे० भू० जीका मत है कि केवट और गुह एक ही व्यक्ति हैं। गुह कल अपना दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करनेमें असफल रहा। उसने जोर तो बहुत लगाया कि 'देव धरनि धन धाम तुम्हारा।''थापिय जन सब लोग सिहाऊ।' पर सफल न हुआ, इसीसे आज सँभलकर प्रयत्न कर रहा है। उनका मत है कि गुह कहता है कि नावका खेवा मैं इसी पार ले लूँगा जो कुछ लेना होगा और 'उत' अर्थात् उस पार तो मैं 'राई' मात्र भी नहीं चाहता और न लूँगा—यह बात निषादराज गुहकी है। यह भी साथ ही उतरा। दूसरा केवट जिसने कि डाँड़ चलाकर नाव खेया है, पीछेसे वह भी उतरा। उसीके सम्बन्धमें कहा है कि 'उतरि दंडवत कीन्हा।' प्रभुने उसे कुछ देना चाहा, परन्तु उसका मालिक पार उतरनेपर कुछ न लेनेकी बात हार चुका है। इससे इसने भी कुछ न लिया। (पाठक स्वयं विचार कर लें।)

बड़े अनोखे और गूढ़ भी हैं और टेढ़े तो हैं ही, पर इनमें उसका प्रेम झलक रहा है कि चरणामृतके लिये जानपर खेलनेको तैयार है।

२—*'करुना अयन'* विशेषण दिया क्योंकि प्रभु उसके आन्तरिक प्रेमको जानकर उसपर कृपा करना चाहते हैं—*'कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जीकी॥'*

३—*'चितइ जानकी लखन तन'*—श्रीलक्ष्मणजानकीजीकी ओर देखकर हँसनेके अनेक भाव महानुभावोंने कहे हैं, कुछ ये हैं—(क) तुम लोग प्रेमी हो, इसका प्रेम देखो कि अटपट वचन कहता है पर चरण धोनेके लिये तीरकी चोट भी सहनेको तैयार है। (क) लक्ष्मणका क्रोध शान्त करनेके लिये हँसे। वा, (ग) उसकी वचन-रचना और प्रेमको देखकर दोनोंकी ओर देखा कि क्या राय है, क्या करना चाहिये? अथवा, (घ) अभीतक चरणसेवा तुम दोनोंके हिस्सेमें पड़ी थी, अब इसको चरण धो लेने दो। (पु० रा० कु०) (ङ) देखो वनमें भी हमारे कैसे-कैसे प्रेमी छिपे पड़े हैं कि हमारे लिये प्राणतक देनेको तैयार हैं। (च) अभीतक निषादराजको ही चतुर समझते थे, पर उसकी प्रजा भी बड़ी चतुर है। (छ) हमारे और लक्ष्मणके चरण तुम्हारे पिताने कन्याएँ देकर धोये थे, यह मुफ्त ही धोना चाहता है। इत्यादि।

४—श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि प्रथम हँसकर लक्ष्मणजीकी तरफ देखकर उसपर अपनी प्रसन्नता सूचित की नहीं तो वे उसे मारनेको तैयार थे। भाव यह कि उसे कुछ कहना नहीं। फिर जानकीजीकी ओर हँसकर देखा कि जैसे तुमने प्रेममें आकर जनकपुरमें अहल्याकी नजीर (प्रमाण, उदाहरण) लेकर चरण-स्पर्श नहीं किया वैसे ही यह केवट भी वही प्रमाण देकर चरण धोना चाहता है। अर्थात् इसका भी प्रेम वैसा ही है जैसा तुम्हारा था। बस, इतना ही भाव लेकर कृपासिन्धु केवटसे मुसकुराकर बोले। 'केवटकी प्रार्थना यदि चरण धोकर अपने तरनेकी स्पष्ट होती तो वह सूधा प्रेम कहा जाता परंतु उसने अहल्याके उदाहरणद्वारा अपनी उपासना पूरी की है, अतः उसके वचन प्रेम-लपेटे कहे गये।'

वेदान्तभूषणजीका मत है कि 'वीरवर लक्ष्मणकुमारके सामने रहते हुए भी वह केवट होकर भी बापतकपर चढ़ाई कर बैठा। यही अटपटी वाणी थी पर प्रेममें पगी हुई। इसीपर वक्तागण श्रीरामका स्वभाव वर्णन करते हैं कि श्रीरामजीने उसके 'तन' अर्थात् केवटकुलोत्पन्न शरीरको न देखकर हृदयके प्रेमका ही निरीक्षण किया।····यही बात यहाँ कही जा रही है कि *'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* अतः करुणा-कृपाके उद्रेकसे *'बिहसे करुना अयन'* क्योंकि चितै 'जान-की' अर्थात् हृदयकी भावना प्रेमको देखते हैं और 'लख-न' तन अर्थात् किसीके शरीरकी तरफ नहीं देखते।'

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि श्रीरामजी जब अलौकिक प्रीति जानते हैं तब बिहँसते हैं, यथा—*'मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।'* (१। २६५) वैसे ही यहाँ भी हँसे।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि—केवटका श्रीचरणोंमें बड़ा प्रेम है, श्रीचरणोंके माहात्म्यसे वह परिचित है, उसे धोकर सपरिवार चरणामृत लेने, और एवंरीत्या अपने पितरोंके तारनेकी अभिलाषा है। इस अभिलाषाको छिपाये हुए वह मजाकसे काम लेता है, कहता है कि तरनी मेरी, और हो जायगी मुनिकी घरनी! मैं बाज आया उतराईसे, मेरी नाव बची रहेगी, तो उतराई दिन-दिन मिलती रहेगी। उतराई न चाहनेके प्रमाणमें रामजीकी तथा महाराज दशरथकी शपथ ले रहा है, लक्ष्मणजीको हँसानेके लिये उनके रामप्रेम तथा रामापमानासहन स्वभावपर कटाक्ष करता हुआ कहता है कि आपका कहना न माननेसे आप तो अप्रसन्न न होंगे, पर इसे लक्ष्मणजी न सहेंगे, ये तीर मार देंगे, सो मुझे मरना मंजूर है, बिना पैर धोये नावपर चढ़ाना मंजूर नहीं। इस प्रकारकी अटपटी वाणी, पर प्रेमसे भरी हुई सुनकर रामजी हँस पड़े। उस प्रेमभरी अटपटी वाणीके आनन्दमें सम्मिलित करनेके लिये सीता और लक्ष्मणजीकी ओर देखकर हँसे कि भक्त तो मुझे बहुत मिले पर ऐसा अटपटा भक्त कोई न मिला। जो साथमें रहता है उसीको आनन्दमें सम्मिलित करनेके लिये, देखकर मनुष्य हँसता है। बहुत बड़ा आयास करके लक्ष्मण और सीताजीकी ओर देखकर हँसनेके कारण ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है।

नोट—कवितावलीमें इन चौपाइयोंके मेलके कवित्त ये हैं—

(सवैया)—*'रावरे दोष न पायन को पग-धूरि को भूरि प्रभाउ महा है।*
पाहन ते बनबाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है॥
पावन पाय पखारि कै नाव चढ़ाइहौं आयसु होत कहा है।
तुलसी सुनि केवटके बर बैन हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है॥' (२।७)

(घनाक्षरी)—*'पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे केवट की जाति कछू बेद न पढ़ाइहौं।*
सब परिवार मेरो याही लागि राजा जु हौं दीन बित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं॥
गौतमकी घरनी ज्यों तरनी तरेगी मेरी, प्रभु सों निषाद ह्वैके बाद न बढ़ाइहौं।
तुलसी के ईस राम रावरी सौं साँची कहौं बिना पग धोये नाथ न नाउ चढ़ाइहौं॥' (२।८)
'जिनको पुनीत बारि धारे सिर पै पुरारि त्रिपथगामिनि जसु बेद कहैं गाइ कै।
जिनको योगींद्र मुनिबृंद देव देह भरि करत बिबिध जोग जप मन लाइ कै॥
तुलसी जिनकी धूरि परसि अहल्या तरी गौतम सिधारे गृह गौनो सो लेवाइ कै।
तेई पाँव पाइ कै चढ़ाइ नाव धोये बिनु ख्वैहौं न पठावनी कै ह्वै हौं न हँसाइ कै॥' (२।९)

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥ १॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥ २॥
जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥ ३॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जगु किए तिहुँ पगहुँ ते थोरा॥ ४॥

अर्थ—दयासागर रघुनाथजी मुसकुराकर बोले कि वही कर जिससे तेरी नाव न जाय॥ १॥ जल्द पानी ला और पैर धो, देर हो रही है, (अपनेको, परिवारको, अपने पितरोंको और हमलोगोंको, सबको) पार उतार दे॥ २॥ जिसके नामका एक बार स्मरण करनेसे मनुष्य अपार भवसागर पार कर जाते हैं॥ ३॥ और, जिन्होंने जगन्मात्रको तीन पगसे भी कम कर दिया, उन्हीं कृपालु-(भगवान् रामचन्द्रजी-) ने केवटकी विनती की और उसका एहसान लिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'कृपासिंधु'* पद दिया क्योंकि केवटके आन्तरिक भावको समझकर उसपर कृपा कर रहे हैं। [(ख)—*'मुसुकाई'* इति। भगवान्‌को केवटकी इच्छा पूरी करनी है। मुसकानेमें भाव यह है कि गङ्गाजीको मोहित करना है, नहीं तो कहीं गङ्गाजी अपना उद्गम वा जन्मस्थान जानकर मार्ग न दे दें; जिससे केवटका मनोरथ पूर्ण न हो सके। दूसरे *'राम ते अधिक राम कर दासा'* यह वचन भरतजीके विषयमें चरितार्थ करना है (यह आगे भरतजीकी चित्रकूटयात्रामें स्पष्ट किया है। स्मरण रहे कि अरण्यकाण्डमें श्रीरामजीको अपना स्वामी जानकर नदियोंका मार्ग देना कहा है, यथा—*'सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहि बर बाटा॥'* (३।७।४) पर यहाँ गङ्गापार होनेके लिये केवटसे विनय कर रहे हैं, यह केवल उसपर समुद्रवत् कृपा करनेके लिये। आगे *'पद नख निरखि देवसरि हरषीं।…'* में देखिये। (प० प० प्र०) (ग) *'सोइ करु जेहि तव नाव न जाई'* इतना कहनेपर भी केवट चरणप्रक्षालनके लिये जल नहीं लाया, क्योंकि वह अपने वचनपर डटा हुआ है, जो उसने पूर्व कहा है कि *'जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥'* (इसीसे फिर प्रभुको कहना ही पड़ा कि *'बेगि आनु जल पाय पखारू।'* और निहोरा भी करना पड़ा कि *'होत बिलंबु उतारहि पारू।'*) उसने अपना निश्चय शपथपूर्वक कहा है। यह है बालहठ।—*'बालक सुत सम दास अमानी।'* बालकोंके वचन तो प्रेम-लपेटे अटपटे होते ही हैं और *'जो बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥'* बालक छोटा-बड़ा, राजा-रङ्क कुछ नहीं जानता। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ (क)—*'जासु नाम सुमिरत एक बारा'* में नामको कहा और फिर *'जेहि जगु किए तिहुँ पगहुँ ते थोरा'* कहकर सूचित किया कि नामका ही यह माहात्म्य नहीं है, रूपकी भी ऐसी ही महिमा

है। इन्होंने वामन-अवतार लेकर दो पगमें ही तीनों लोकोंको नाप लिया था, फिर भला गङ्गापार होनेके लिये उन्हें नावकी अथवा केवटसे निहोरा करनेकी आवश्यकता हो सकती है? कदापि नहीं। वे तो केवटपर कृपा करना चाहते हैं और उसका मनोरथ पूरा कर रहे हैं। *'सोइ कृपालु'* अर्थात् वहाँ बलिपर कृपा की थी। एक पगमें उनको नापकर उनपर कृपा की, वैसे ही यहाँ चरण धुलाकर नावपर चढ़कर केवटपर कृपा कर रहे हैं। (ख) *'किए तिहुँ पगहुँ ते थोरा'* इति। राजा बलिने वामनरूपधारी भगवान्‌की विधिपूर्वक पूजा करके हाथमें जल लेकर तीन पग भूमिका सङ्कल्प कर दिया तब भगवान्‌का वह वामनरूप बढ़ने लगा। वह यहाँतक बढ़ा कि पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता और ऋषि सब-के-सब उसीमें समा गये। राजा बलिने भगवान्‌के उस शरीरमें पञ्चभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, अन्तःकरण और जीवोंके साथ सम्पूर्ण त्रिगुणमय जगत् देखा। उनके चरणतलमें रसातल, चरणोंमें पृथ्वी, पिण्डलियोंमें पर्वत, घुटनोंमें पक्षी और जङ्घोंमें मरुद्गणको देखा। इसी प्रकार भगवान्‌के वस्त्रोंमें सन्ध्या, गुह्यस्थानोंमें प्रजापतिगण, जघनस्थलमें अपने सहित समस्त असुरगण, नाभिमें आकाश, कोखमें सप्तसमुद्र और हृदयमें नक्षत्रसमूह देखे। इत्यादि। (भा० ८। २०। २१—२९) उन्होंने अपने एक पगसे बलिकी सारी पृथ्वी नाप ली, शरीरसे आकाश और भुजाओंसे दिशाएँ घेर लीं। दूसरे पगने स्वर्गको नाप लिया और बढ़ता हुआ सत्यलोकमें पहुँच गया।—**'क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः॥ पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि। उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः॥'** (भा० ८। २०। ३३-३४) तीसरे पगके लिये कोई भी वस्तु न बची; इसीसे *'तिहुँ पगहु ते थोरा'* कहा। ३० (७) भी देखिये।

नोट—*'बेगि उतारहि पारू'* जल्दीका कारण यह है कि (१) दिन बहुत चढ़ रहा है। चैतका महीना है, धूप कड़ी पड़नेसे जानकीजीको चलनेमें कष्ट होगा और चलना बहुत है। पैदल चलनेका आज प्रथम दिन होगा। (२) सुमन्त्रजी रथ लेकर लौटतेमें रास्तेमें विक्षिप्त गिर पड़े हैं, यह प्रभु जानते हैं। कोई आकर यह खबर न दे दे, नहीं तो फिर न रुकते बनेगा, न चलते। (३) कहीं सुमन्त्र फिर लौट न आवें। और भी भाव पंजाबीजीने दिये हैं। *'उतारहि पारू'* में गुप्त भाव यह भी है कि अपने मनकी लालसा शीघ्र पूरी कर ले, चरणोदक लेकर अपने पितरों और कुलपरिवारको तार ले, तेरे मनकी हो गयी, उसमें विलम्ब न कर। यह भाव अगले दोहेसे पुष्ट होता है—*'पद पखारि·····'*।

पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी॥५॥
केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥६॥
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥७॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं॥८॥

शब्दार्थ—**करषी**=आकर्षित कर ली, खींच ली। **कठवता**=कठौता=काठका एक बड़ा बरतन, जिसकी बारी बहुत ऊँची और ढाँलुआँ होती है।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके चरण-नखोंको देखकर (अपना उत्पत्ति-स्थान जानकर और यह समझकर कि बिछुड़े हुए चरणोंका स्पर्श होगा) गङ्गाजी प्रसन्न हुईं। प्रभुके वचनोंको सुनकर मोहने बुद्धिको आकर्षित कर लिया (खींच लिया)॥५॥ श्रीरामजीकी आज्ञा पाकर केवट कठौतेमें पानी भर लाया॥६॥ मारे आनन्दके प्रेमसे उमगकर वह चरणकमलोंको धोने लगा॥७॥ समस्त देवता फूल बरसाकर ललचा-ललचाकर उसकी प्रशंसा कर रहे हैं कि इसके समान पुण्यवान् (पुण्य-समूहवाला) दूसरा कोई नहीं है॥८॥

'सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी'—

इसके दो प्रकारके भावार्थ कहे जाते हैं। एकसे तो गङ्गाजीका मोहित हो जाना और दूसरेसे मोहका

दूर होनेका भाव निकलता है। मोहने बुद्धिको खींच लिया वा बुद्धिने मोहको खींच लिया अर्थात् दूर कर दिया। मोहबुद्धि नष्ट हो गयी।

(१) प्रभुके प्राकृतिक वचन सुनकर मोह हो गया कि समर्थ ईश्वर होकर केवटका निहोरा इस प्रकार कर रहे हैं, यह क्या बात है? ये मनुष्य तो नहीं हैं?—(पंजाबीजी) प्रभुके चरित्र देखकर ब्रह्मा, वसिष्ठ, सती, शिव, काकभुशुण्डि आदिको मोह हो जाता है तो यदि गङ्गाजीको मोह हुआ तो क्या आश्चर्य?

(२) अथवा, जब प्राकृत वचन सुनकर मोह हुआ कि ये भगवान् नहीं हैं तब बुद्धिने मोहको आकर्षित कर लिया अर्थात् बुद्धिने विचारकर निश्चित किया कि नहीं ये प्रभु ही हैं, नर-लीला करते हैं, तब मोह छूट गया। ऐसा अर्थ करनेसे आगेके प्रसङ्गसे विरोध नहीं होगा। क्योंकि यदि मोहित रखना कायम करते हैं, यदि श्रीरामजीके ब्रह्मका अवतार होनेमें संदेह बना रहा तो आगे सीताजीका महत्त्व कैसे कह रही हैं।

गौड़जी—भगवान्‌के पदनखको देखकर गङ्गाजी प्रसन्न हुईं कि अब इन चरणोंसे जो अनन्तकालका वियोग था वह मिट गया। परंतु भगवान्‌के वचन सुनकर यह मोह (भ्रम) दूर हो गया और श्रीगङ्गाजीको यह पता लगा कि भगवान् बिना विलम्बके चले जानेवाले हैं और जबसे पदनखसे वियोग हुआ तबसे लेकर आगे कल्पान्ततक बहते रहना ही मेरे भाग्यमें बदा है। (श्रीरामजीसे बिछोह होनेसे यही दशा होती है, इसके उदाहरणमें कविने विनय-पद ८७ में कहा ही है कि *'जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता तिहुँ पुर सुजस घनेरो। तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥'*)

रा० प्र०—गङ्गाजीको मोह था कि कदाचित् केवटके वचन न मानें, और हमको लाँघ जायँ अथवा बिना चरण धुलाये ही पार उतर जायँ तो हमको चरणोंका स्पर्श न होगा; यह मोह प्रभुके वचन—*'बेगि आनु जल पाय पखारू'* सुनकर दूर हो गया अर्थात् उनको विश्वास हो गया कि अब अवश्य प्रभुके चरणके स्पर्शका सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा। अथवा, रघुनाथजीने कहा था कि *'बेगि''''बिलंबु उतारहि पारू'*—इन वचनोंको सुनकर समझीं कि हमारे निकटसे शीघ्र जाना चाहते हैं। इससे मोहने मतिको खींचा। भाव कि युगोंके बीतनेपर आज पुनः मिले सो भी तुरत ही छोड़कर जाना चाहते हैं।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि केवटसे पार उतारनेके लिये निहोरा करते देख गङ्गाजीको मोहने घेर लिया; यह मोह-बुद्धि आगे दूर होगी जब देवगण आकाशसे केवटके भाग्यकी सराहना करके फूल बरसावेंगे।

प०प० प्र०—गङ्गाजीने पहचाना कि यह अपना जन्मस्थान है, अतः पितृदर्शनसे उनको आनन्द और उत्साह हुआ कि पिताको मार्ग देकर उनकी एक बार यह अल्प सेवा कर लूँगी; यथा—*'सरिता सर गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा॥'* (३। ७। ४) पर भगवान्‌ने यह सोचा कि इससे अवतारका रहस्य प्रकट हो जायगा और केवटकी इच्छा भी पूरी न होगी। अतः जब *'कृपासिंधु बोले मुसुकाई'* तब गङ्गाजीकी मतिमें मोह हो गया, ऐश्वर्यभाव दब गया और माधुर्यभाव प्रकट हुआ। गङ्गापार होनेपर भगवान्‌ने अपनी मायाका आवरण दूर कर दिया, तब गङ्गाजीने श्रीसीताजीकी प्रशंसा की। (यह पूर्व कई बार लिखा जा चुका है कि) प्रभुकी मुसकान ऐश्वर्यभावको दबाकर माधुर्यभावको क्रियाशील कर देनेके लिये होती है। (१। २१६, ७। ८, १। १९२ छन्द *'उपजा जब ग्याना'''''* देखिये)।

श्रीबैजनाथजी—प्रभुके पदनखको देखकर अपना जन्मस्थान जानकर हर्षित हुईं अर्थात् रूपको शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म देखा। इस ऐश्वर्यको छिपानेके लिये प्रभु मनुष्योंके समान वचन बोले, जिन्हें सुनकर मोह हो गया, ऐश्वर्यदर्शीमति खिंच गयी। तब वे प्रेमसे राजकुमारकी माधुरी छबिमें मोहित (मुग्ध) हो गयीं।

नोट—१ *'पानि कठवता भरि लेइ आवा'* इति। प्रभुके वचन लिखकर फिर बीचमें प्रसङ्ग पाकर नाम और रूपका माहात्म्य कहने लगे थे। अब फिर कथाको वहींसे उठाते हैं। प्रभुकी आज्ञा पाकर केवट कठौतामें पानी भर लाया। प्रायः केवटोंके पास नावपर छोटी कठौती पानी उलचनेके लिये रहा करती

है, अतः वह उसीको जल्दीसे ले आया। कवितावलीमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है—'*प्रभु रुख पाइकै बोलाइ बाल घरनिहिं बंदि कै चरन चहुँदिसि बैठे घेरि घेरि। छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजू को धोइ पायँ पियत पुनीत बारि फेरि फेरि॥ तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर, बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि। बिबुध सनेह सानी बानी असयानी सुनि, हँसे राघौ जानकी लषन तन हेरि हेरि॥*' (क० २। १०)

नोट—२ यहाँ कठौता लानेमें दूसरा भाव लोग यह कहते हैं कि केवटने चालाकी की कि कठौती लाया जिसमें परीक्षा भी हो जायगी। यदि यह स्त्री हो गयी तो कठौती ही जायगी, नाव तो बच जायगी, विशेष हानि न होगी। (पं० रा० कु०) अथवा, भगवान् तपस्वी-वेषमें हैं। तपस्वियोंको धातुका स्पर्श न करना चाहिये। वे धातु नहीं छूते, पाषाण और काठ छूते हैं। इसीसे स्वर्णके अनेक आभूषण होते हुए भी केवटको उतराई देनेके लिये श्रीजानकीजीने मणिमुद्रिका ही पतिके हाथमें दी और लंकामें श्रीहनुमान्‌जीको श्रीरघुनाथजीको देनेके लिये चूड़ामणि दी थी; ये दोनों आभूषण पाषाणके हैं। धनुष-बाण जो धारण किये हैं (वह तो अपना क्षात्रधर्म है और फिर) वह परोपकार-हेतु लिये हैं, ऋषियोंको पीड़ा देनेवाले रावणादि राक्षसोंका वध करनेके लिये हैं। अतएव कठौता लाया। (शीलावृत्ति) भगवच्चरणामृत पान करनेके लिये जो बहाना किया है कि काठकी नाव न उड़ जाय, उसका बुद्धिपूर्वक निर्वाह करता जा रहा है, यह उसकी चतुराई है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—यहाँ गङ्गाजलको '*पानी*' कहनेका भाव यह है कि यह तो रोज ही मिलता है, पर चरण अलभ्य लाभ है कि जहाँसे गङ्गाजी निकली हैं—'*गङ्गाम्भोऽपि निरादरः।*' (देखिये; रामजीने भी '*जल*' कहा—'*बेगि आनु जल*'। पर प्रभुके साक्षात् चरणोदकके आगे केवटका '*पानी*' लाना कहा। और चरण उसी पानीमें धो लेनेपर उसीको '*पुनीत बारि*' और जल कहा, यथा—'*पियत पुनीत बारि फेरि फेरि*', '*जलपान करि॥*' (१०१)

नोट—३ '*अति आनंद उमगि अनुरागा।*...' इति। (क) विवाह-समयके पादप्रक्षालनप्रसंगके '*बरु बिलोकि दंपति अनुरागे। पाय पुनीत पखारन लागे॥ लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली॥*' (१। ३२४ छंद) से इस चरणके भाव स्पष्ट हो जाते हैं। श्रीजनकजी तथा श्रीसुनयनाजी '*अनुरागे*' और 'अनुराग'से उनके शरीरमें पुलकावली होने लगी और केवटके तो अति 'आनन्द' है और अनुराग उमड़ता चला आता है तब शरीरकी प्रेमपुलकावलियोंका क्या कहना! अनुराग उमड़कर प्रेमाश्रु, पुलकावली, गद्गद कण्ठ आदिद्वारा बाहर निकल रहा है। यहाँ '*अति*' शब्द देकर सिद्ध करते हैं कि केवट श्रीजनकमहाराजसे भी अधिक अनुरागयुक्त हृदयसे चरणसरोजको पखार रहा है। (प० प० प्र०) उसको अति आनन्द हुआ ही चाहे, क्योंकि श्रीजनकजीको तो कन्यादानके समय चरणप्रक्षालनका अधिकार ही था और यह तो केवट था, इसके भाग्यमें वह अधिकार कहाँ था। यह तो वह था कि '*जासु छाँह छुइ लेइय सींचा।*' (ख) '*चरनसरोज*' कहकर '*जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं।*....*मकरंद जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई॥ करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं। ते पद पखारत भाग्य भाजनु*...॥' (१। ३२४ छंद) का सब भाव सूचित कर दिया। अर्थात् इन चरण-कमलोंका निवास शम्भुके उररूपी सरमें, इनके मकरन्दका निवास शंकरजीके सिरपर रहता है, और मुनिगण तथा योगिजनोंके मन इन कमलोंके भौंरे हैं; ऐसे दुष्प्राप्य चरण-कमलोंका प्रक्षालन कर रहा है। तब इसके भाग्यकी सराहना क्या की जा सकती है! '*लागा*' से, यह भी जनाया कि देरतक धोता रहा।

नोट—४ '*बरषि सुमन*' इति। विवाहके समय दंपतिने जब पदप्रक्षालन किया तब '*भाग्य भाजन जनक जय जय सब कहैं।*' पर यहाँ देवता फूल बरसाने लगे और उसके भाग्यकी सराहना ईर्ष्यापूर्वक कर रहे हैं, यह बात विवाहके समय न थी। इससे इसका भाग्य दंपतिसे भी अधिक जनाया। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि '*पुन्यपुंज नहिं दूजा*' कहा; क्योंकि '*मकरंद जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई।*' वे इसको प्राप्त हुए—ऐसे नीचको।

दो०—पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥ १०१॥

अर्थ—चरणोंको धोकर और कुटुम्बसहित आप भी उस जल-(चरणोदक-) को पीकर अपने पितरोंको भवसागर पार करके तब प्रसन्नतापूर्वक प्रभुको गङ्गापार ले गया॥ १०१॥

पु० रा० कु०—'परिवारभरको चरणामृत पिलाया, यह समझकर कि फिर ऐसा योग नहीं लगनेका। *'पितर पारु करि'* से सूचित किया कि तर्पण किया। —यहाँ चपलातिशयोक्ति अलंकार है।'

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लषन समेता॥ १॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं* कछु दीन्हा॥ २॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥ ३॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥ ४॥

अर्थ—गुह (निषादराज) और लक्ष्मणजीसहित सीताजी और रामचन्द्रजी (नावसे) उतरकर गङ्गाजीकी रेत-(बालू-) पर खड़े हुए॥ १॥ (तब) केवट-(नाव खेनेवाले-) ने उतरकर दण्डवत् किया। (दण्डवत् करते देख) प्रभु श्रीरामजीको संकोच हुआ कि इसे कुछ दिया नहीं॥ २॥ पतिके हृदयकी जाननेवाली श्रीसीताजीने प्रसन्न मनसे मणिकी अँगूठी (अँगुलीसे) उतारी॥ ३॥ कृपालु श्रीरामजीने केवटसे कहा कि उतराई लो। (यह सुनकर) केवटने घबड़ाकर प्रभुके चरण पकड़ लिये (और बोला)॥ ४॥

नोट—१ *'उतरि ठाढ़ भए""'* इति। यहाँ उतरनेका क्रम दिखाया। प्रथम श्रीसीताजी, तब श्रीरामजी, तत्पश्चात् गुह और अन्तमें लक्ष्मणजी। वाल्मी० और अ० रा० में चढ़नेका क्रम दिया है, पर दोनोंमें भेद है। मानसमें चढ़नेका क्रम नहीं है। उतरनेपर चारोंके नाम इस क्रमसे हैं।

नोट—२ *'केवट उतरि दंडवत कीन्हा""'* इति। (क) सेवा करनेके पश्चात् दण्डवत्-प्रणाम करनेकी रीति है। राजाओं, रईसोंके यहाँ इसका अर्थ यही लिया जाता है कि बखशीश मिलनी चाहिये। (ख) *'प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा'* इति। —श्रीरामजीकी उदारता, शील, संकोच और कृतज्ञताकी हद है। केवटके पितृगण भवपार हुए, वह स्वयं परिवारसहित मुक्त हुआ—इस मुक्ति-दानको प्रभुने उसकी खेवाईकी मेहनतके आगे 'कुछ नहीं' समझा। श्रीरघुनाथजीकी दृष्टिमें भक्तको देनेमें भुक्ति-मुक्ति कुछ पदार्थ नहीं है। देखिये, विभीषणको लंकाका राज्य देनेपर भी प्रभुको संकोच ही रहा कि हमने इन्हें कुछ न दिया—*'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिए दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥'* (५। ४९)—सोचे कि यह तो इसीके घरकी थी, दूसरे अब वह जली हुई है। वैसे ही वे सोचते हैं कि मुक्ति तो निशाचरोंको भी देते हैं, इसे मिली तो क्या बड़ी बात हुई? दूसरे, प्रभुका स्वभाव है कि दिये हुए दानको भूल जाते हैं—*'निज गुन अरिकृत अनहितो दास दोष सुरति चित रहति न दिए दान की। बानि बिसमरन सील है मानद अमान की॥'* (विनय० ४२) ☞सब कुछ देकर भी अपनेको अपने स्नेही भक्तका ऋणी माननेवाला प्रभु रामचन्द्रके सिवा दूसरा कौन है। यह दिखाकर गोस्वामीजी भक्तोंकी अनन्यता दृढ़ कर रहे हैं।

पंजाबीजी लिखते हैं कि प्रभुने सोचा कि मुक्ति तो शत्रुको भी देते हैं इसको अकेली मुक्ति कैसे दूँ; अतएव सोचते हैं कि इसको चारों पदार्थ दें। सीताजीने प्रभुके मनकी जानकर चिन्तामणिमयी अँगूठी उतारी, जिससे अर्थ, धर्म, काम तीनों वह प्राप्त कर सकेगा।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि प्रभु राजकुमार हैं, जानते हैं कि आज्ञापालनके बाद प्रणाम करनेपर इनाम दिया जाता है। केवटकी तो जीविका ही पार उतारकर उतराई लेना है। पार उतारकर दण्डवत् करनेपर बखशीश देना प्राप्त है। सरकार घरसे लेकर कुछ चले नहीं, अतः उतराई न देनेका संकोच है।

* कछु नहिं—रा० प्र०।

नोट—३ *'पिय हिय की सिय···उतारी'* इति। (क) यहाँ माताके सिखावनको कि *'पतिरुख लखि आयेसु अनुसरेहू।'* (१। ३३४। ५) को चरितार्थ किया। पतिके मनकी बात जानकर उसके अनुकूल उन्होंने सेवा की। बड़े प्रसन्न मनसे अँगूठी उतार दी, जिससे प्रभुका संकोच दूर हो गया। मणिकी मुद्रिका देनेका भाव (१०१। ६) में लिखा गया है। आजकलकी बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी हालतमें तो पतिपर और जल ही उठें कि रही-सही वह भी लिये लेते हैं। (ख) *'मन मुदित उतारी'* का भाव यह कि केवट अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष जो चाहे सो पत्र लिखकर इस मणिमुदरीसे छाप लगाकर अपने पास रखे या और भी जिसे देना चाहे मुहरछाप लगाकर दिया करे। (रा० प्र०) पुन: भाव कि उद्भव-स्थिति-संहार करनेवाली सीताजी मुदरी नहीं देतीं, मानो मोहर देती हैं कि अब तेरे निकट माया न आवेगी, अविद्यारूपी मोह अब कभी तुझे न होगा। (पु० रा० कु०)

नाथ आजु मइ काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥५॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि* भूरी॥६॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीन दयाल अनुग्रह तोरें॥७॥
फिरती बार मोहि जो† देबा। सो प्रसादु मइँ सिर धरि लेबा॥८॥

शब्दार्थ—**मइ**=मैं! दारिद (दारिद्र्य)=दरिद्रता, कंगालपन। **मजूरी**=मजदूरी। **बनि** (बन्धी)=मजूरी—यह शुद्ध अवधी शब्द है—(दीनजी) **भलि भूरी**=भली प्रकार बहुत-सी, एकदम भरपूर।=अच्छी और भरपूर।

अर्थ—हे नाथ! आज मैंने क्या नहीं पाया अर्थात् सभी कुछ तो मुझे मिल गया, अब क्या बाकी रहा? मेरे दोष, दु:ख और दरिद्रतारूपी दावानल आज मिटे॥ ५॥ मैंने बहुत काल मजदूरी की, विधाताने आज अच्छी और एकदम भरपूर मजूरी दे दी॥६॥ हे नाथ! हे दीनदयाल! अब आपका अनुग्रह होनेसे मुझे और कुछ न चाहिये॥ ७॥ लौटते समय जो कुछ प्रसाद आप मुझे देंगे वह मैं सिरपर धारण करके लूँगा॥८॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि केवटने घबड़ाकर चरण पकड़ लिये। भाव यह कि वह लेना नहीं चाहता। चरण पकड़कर वह जनाता है कि (१)—'क्या आपके दर्शन होनेपर भी भोगकी इच्छा रहती है? अब मुझे ठगिये नहीं। इससे सूचित करते हैं कि ईश्वरकी भक्ति करनेसे मुक्ति और भुक्ति आप-ही-आप प्राप्त हो जाती है। (२) मैं शपथ कर चुका हूँ कि मैं उतराई नहीं चाहता तो आप मुझे 'मुदरी' देकर झूठा बनाना चाहते हैं। अथवा, (३)—ऐसा करके वह टालना चाहता है। इसीसे कहता है कि मैं सब कुछ तो पा गया, अच्छा, लौटती बार जो देंगे सो लूँगा।

(ख)—*'मिटे दोष दुख दारिद दावा'* इति।—दोष अनेक प्रकारके पूर्वकर्मोंका। दु:ख तीन प्रकारके—दैहिक, दैविक, भौतिक। *'दावा'* (दवाग्नि, अग्नि) दोष, दु:ख और दारिद तीनोंके साथ है। (दोष-पाप। पापसे दु:ख होता है, यथा—*'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग।'* दोष-दु:ख मिटे अर्थात् कारण और कार्य दोनोंका नाश आपके चरणस्पर्शसे हो गया। दु:खोंमेंसे दारिद्र्य भी दु:ख है, पर इसे पृथक् भी कहा; क्योंकि इससे बढ़कर दु:ख नहीं है, यथा—*'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* (७। १२१। १३) दोषादिको *'दावा'* कहनेका भाव कि आजतक मैं पाप और दु:खोंसे संतप्त रहा हूँ, आज वह जलन दूर हुई।)

नोट—१ *'बहुत काल मैं कीन्ह मजूरी।···'* इति। अर्थात् अनेक जन्मोंसे मजूरी करता दु:ख-दोषसे संतप्त रहा, आज आपकी मजूरी की तब पेट भरा, ताप दूर हुए। (पं०) साधारण भाव यह है कि केवटका जन्म लेकर आजतक नाव खेता रहा, पर भरपूरसे भी अधिक उतराई आज ही मिली है। मैं, मेरा परिवार और पुरखे सब तर गये।

---

* भरि—रा० प्र०।

† जो कछु—रा० प्र०।

टिप्पणी—२ '*अब कछु नाथ न चाहिअ*……' इति। केवटको श्रीरामदर्शनसे सहज स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। प्रभुका वाक्य है कि '*मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥*' अब अँगूठी लेनेसे स्वरूपमें भ्रम वा मोह हो जानेका भय है। इसीसे वह घबड़ा गया। इसी प्रकार जब श्रीसीताजीकी सुध लाकर हनुमान्‌जीने सुनायी और प्रभुने कहा कि '*सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचारि मन माहीं*……॥' तब हनुमान्‌जीने घबड़ाकर चरण पकड़ लिये हैं। यथा—'*सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥*' अर्थात् हे प्रभु! आपके वचनोंसे मुझे मोह होनेका भय है, इससे मेरी रक्षा कीजिये। विभीषणजीको जब दर्शन और शरणकी प्राप्ति हो गयी तब उन्होंने भी कहा है कि '*उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥*' (५। ४९। ६) अर्थात् अब सब इच्छाएँ पूर्ण हो गयीं, वैसे ही केवट कह रहा है। '*अनुग्रह तोरे*' से यह आशय निकलता है कि आपकी कृपा होनेसे कुछ वासना नहीं रह गयी। अब यह कृपा सदैव बनाये रखियेगा।

टिप्पणी—३ (क) '*फिरती बार मोहि जो देबा।*……' इति। न लेनेका कारण कि—(१) शपथ कर चुका है। वा, (२) ये वानप्रस्थ धर्म पालन कर रहे हैं, वनको जा रहे हैं; इस समय लेना उचित नहीं। वा, (३) हमको परिवार और पुरुषोंसमेत भवपार आपने किया, हमने गङ्गा-पार किया, दोनों बराबर हो गये* अब जब फिर आकर उतरेंगे तब उतराई लूँगा, क्योंकि मुझे तो एक ही बार उतरना है। वा, (४) भगवान्‌को ऋणी बनाये रखता है, जिसमें फिर इसी घाटपर आकर उतरें। (पाँड़ेजी)

(ख) '*सो प्रसादु*' का भाव यह कि मजूरी तो तब भी मुझे नहीं चाहिये, प्रसाद आपका चाहिये, सो जो प्रसाद (प्रसादस्तु प्रसन्नता) आप देंगे वह आदरपूर्वक लूँगा। '*मोहि जो देबा*' अर्थात् यदि प्रभु कहें कि लौटते समय अँगूठी न रही तो क्या देंगे, उसपर कहता है कि जो कुछ आप देंगे वही आपका प्रसाद मैं खुशीसे लूँगा।

(ग) जिनके मतानुसार यह नाविक और निषादराज एक ही हैं वे कहते हैं कि लौटनेपर राजगद्दीके बाद प्रभुने इसे वह प्रसाद दिया, यथा—'*दीन्हें भूषन बसन प्रसादा।*'

दो०—बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥१०२॥

शब्दार्थ—'**बहुत कीन्ह**'=बहुत आग्रह या उपाय किये; बहुत समझाया। '**बिमल**'=विशुद्ध, निष्काम।

अर्थ—प्रभुने,लक्ष्मणजीने और श्रीसीताजीने बहुत (आग्रह वा उपाय) किया पर केवट कुछ नहीं लेता। तब करुणाके स्थान श्रीरामचन्द्रजीने निर्मल भक्तिका वरदान देकर उसे विदा किया॥१०२॥

☞ * यहाँ दिखाते हैं कि जिसमें ऐसा वैराग्य होता है कि मूर्तिमान् लक्ष्मीके देनेपर भी नहीं लेता, जो ऐसा निष्काम होता है उसपर प्रभु, आचार्य (लक्ष्मणजी) और श्रीजी प्रसन्न होती हैं और तभी प्रभु अपनी भक्ति देते हैं। श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजी भोगपदार्थ देते रहे, न लेनेपर भक्ति मिली। यह विशिष्टाद्वैत मत हुआ। (पुं० रा० कु०) नाव खेनेवालेको यहाँ बिदा कर दिया, पर निषादराज अभी साथ हैं। प्रसादमें विमल 'भक्ति' उसे अभी मिल गयी, क्योंकि लौटती बार नावपर पार नहीं उतरना है, पुष्पक विमानसे ही आवेंगे।

'*करुनायतन*' विशेषण दिया क्योंकि जो विशुद्ध भक्ति नारद-सनकादिकको भी दुर्लभ है वह इसको कृपा करके दी। (पु० रा० कु०) निर्मल भक्ति भगवान्‌की कृपासे ही मिलती है। यथा—'*अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥*' (७।८४)

* किसी कविने कहा—'तुम हो तरनि कुल पालन करनहार हमहूँ तरनि ही के पालन करैया हैं। भीम भवसागरके सुघर खेवैया आप हमहूँ सदैव देवसरिके खेवैया हैं। कौतुकी कुपंथनिको पार करवैया नाथ हौं तो जगपावनिको पार करवैया हैं। हम तुम भैया एक कर्मके करैया राम केवट सो केवट न लेत उतरैया है।' (रा० बा० दास मालवीय)

श्रीमद्भागवतमें भी यही बात यों कही गयी है—'**सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः। स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥**' (५।१९।२७) अर्थात् यह सत्य है कि भगवान् सकाम पुरुषोंको माँगनेपर अनेक अभीष्ट पदार्थ देते हैं, किंतु यह असली पदार्थ नहीं है, क्योंकि उन्हें फिर भी कामनाएँ होती ही रहती हैं। इसके विपरीत जो उनका निष्कामभावसे भजन करते हैं, उन्हें तो वे साक्षात् अपने चरणकमल ही दे देते हैं, जिन्हें पाकर मनुष्यकी सभी कामनाएँ सदाके लिये पूर्ण हो जाती हैं।

वि० त्रि०—सीताजीने समझ लिया कि प्रभुको उतराई न देनेका संकोच है, अतः मणिमुदरी उतारकर प्रभुको उतराई देनेके लिये दिया। प्रभुने कहा कि उतराई लो। केवट तो सुनकर व्याकुल हो गया, चरण पकड़ लिया कि सरकार क्या कर रहे हैं? मैं संसारमें कौन मुख दिखलाऊँगा? लोग कहेंगे कि ऐसा दुष्ट है कि उतराईके लिये स्त्रीका गहना उतरवा लिया। सरकारने देखा कि यह मेरे हाथसे न लेगा, तब लक्ष्मणजीसे कहा कि तुम दो, लक्ष्मणजीके भी बहुत प्रयत्न करनेपर जब उसने नहीं लिया, तब यह बात ठहरी कि जिसका गहना है वही दे। तब सीताजी देने लगीं, पर उसने नहीं ही लिया। कहने लगा कि लौटते समय जो सरकार देवेंगे, उसे शिरोधार्य करेंगे। पर नीति यह है कि '**आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्यैव कर्मणः। क्षिप्रमेव प्रकर्तव्यं कालो विवर्ति तद्रसः॥**' जो देना-लेना हो, जो करना हो, उसे तुरन्त कर डाले और केवटको बहुत प्रलोभन दिया गया पर वह लेता नहीं, अतः उसे सांसारिक भोगोंसे निःस्पृह देखकर विमल भक्ति दी।

'बिपिन गवन केवट अनुरागा'—प्रकरण समाप्त हुआ।

'सुरसरि उतरि निवास प्रयागा' प्रकरण

तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥ १॥
सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥ २॥
पति देवर सँग कुसल बहोरी। आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥ ३॥
सुनि सिय बिनय प्रेमरस सानी। भइ तब बिमल बारि बर बानी॥ ४॥

शब्दार्थ—**पारथिव** (पार्थिव)=पृथ्वी-सम्बन्धी, मिट्टीका शिवलिंग जिसके पूजनका बड़ा फल माना जाता है। (वि० त्रि० की टिप्पणी देखिये) **पुरउबि**=पूर्ण कीजिये। **देवर**=पतिका छोटा भाई।

अर्थ—तब(केवटको विदा करके) रघुकुलके स्वामी श्रीरामजीने स्नान करके पार्थिवपूजन करके प्रणाम किया॥ १॥ श्रीसीताजीने गङ्गाजीसे हाथ जोड़कर कहा—हे माता! मेरा मनोरथ पूरा कीजिये, जिसमें स्वामी और देवरके साथ कुशलसे लौट आकर फिर आपकी पूजा करूँ॥ २-३॥ सीताजीकी प्रेमरसमें सनी हुई प्रार्थना सुनकर तब उस निर्मल श्रेष्ठ जलसे यह श्रेष्ठ वाणी हुई॥ ४॥

नोट—१ मृत्तिकाके महादेव बनाकर पूजन किया—विघ्न-निवारण-हेतु; अथवा इसलिये कि शिवजी रावणके इष्टदेव हैं। रावणको वध करने जा रहे हैं, अतः शिवकी प्रसन्नताके लिये पूजन किया। (पां०) अथवा, यह भी एक दिनचर्या है। इत्यादि। (रा० प्र०, पु० रा० कु०) श्रीरामजीने पार्थिव-पूजन किया और श्रीसीताजीने गङ्गा-(शिवशक्ति-) की वन्दना की। (पु० रा० कु०) ☞ रामजीका पार्थिव-पूजन करना कहा, लक्ष्मणजीका पूजन न कहा, इससे जनाया कि वे श्रीरामजीके अनन्यभक्त हैं, इनके सिवा दूसरेको जानते ही नहीं। पुनः ऐतिहासिक दृष्टिसे ऐसा कहा जाता है कि रामजीसे माधुर्यमें शिवजीका पूजन लोकसंग्रह और शैववैष्णवविरोध मिटानेके लिये जहाँ-तहाँ लिखा गया है। श्रीरामजीने जब रघुवंशमें मनुष्य-अवतार लिया तब नर-राजकुमारकी हैसियतसे शिवपूजन करना भी उचित ही है—*'जस काछिय तस चाहिय नाचा'*। इसीसे पूजन करनेमें 'रघुकुलनाथ' विशेषण दिया। कुलमें शिवजीका पार्थिव-पूजन होता है, यह उस कुलके नाथ हैं, अतः इन्होंने भी किया।

वि० त्रि०—'**आयुष्मान् बलवान् श्रीमान् पुत्रवान् धनवान् सुखी। वरमिष्टं लभेल्लिङ्गं पार्थिवं यः समर्चयेत्। तस्मात्तु पार्थिवं लिङ्गं ज्ञेयं सर्वार्थसाधकम्॥**' पार्थिव-पूजनसे मनुष्य आयुष्मान्, बलवान्, श्रीमान्, पुत्रवान्, धनवान् और सुखी होता है और उसे इष्ट वर मिलता है, इसलिये पार्थिव-पूजन सर्वार्थसाधक है। सरकारने स्वयं पूजन करके गृहस्थोंके लिये अल्पायासमें महान् फल देनेवाले इस पूजनका उपदेश दिया। सरकारके इस वचनपर ध्यान देनेसे कि '*औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥*' पार्थिव-पूजन सभीके लिये अति उपयोगी सिद्ध होता है। पूजन-विधि भी बहुत ही सरल है, यथा—'**हराय नमः, मृदाहरणम्। महेश्वराय नमः, संघट्टनम्। शूलपाणये नमः, स्थापनम्। पिनाकपाणये नमः, आवाहनम्। शिवाय नमः, स्नानम्। पशुपतये नमः, पूजनम्। महादेवाय नमः, विसर्जनम्।**'

'शिव-पूजन'

आदिकवि वाल्मीकिजीके ग्रन्थमें शिवपूजनका उल्लेख नहीं पाया जाता। इसी कारण कट्टर वैष्णव पार्थिव-पूजन इत्यादिपर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और कोई-कोई तो गोस्वामीजीको शैव कह बैठते हैं। कुछ लोगोंका मत है कि इतिहासके देखनेसे पता चलता है कि गोस्वामीजीने स्थान-स्थानपर शिवजीका पूजन इत्यादि क्यों वर्णन किया है और किस आधारपर? इस विषयपर बहुत-से महानुभावोंने अपने विचार प्रकट किये हैं। वे ही यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

१—पं० यादवशंकर जामदार—(i) 'गोसाईंजीने भक्तिकी प्राप्तिके प्रधान साधन पाँच प्रकारके बतलाये हैं। उनमेंसे प्रथम चार—विप्रचरणसेवन, सत्संग, नामजप और हरिभजन तो सभी ग्रन्थों और संतोंने बताये हैं; अतः इनके सम्बन्धमें विशेष चर्चाकी आवश्यकता नहीं। पाँचवाँ साधन शिवोपासना है—इसीपर थोड़ा विचार करना है। इस मतके सम्बन्धमें गोसाईंजीने श्रीमद्भागवतका ही सहारा लिया है। '**वैष्णवानां यथा शम्भुः**' भागवतकी इस उक्तिको प्राधान्य देकर और शैव-वैष्णवोंके आपसी दुराग्रहोंपर ध्यान पहुँचाकर स्वामीजीने इस साधनपर यदि जोर दिया हो तो बड़ा ही योग्य समझना चाहिये। कारण उस द्वेषका निवारण उनके लोकशिक्षाके कार्यक्षेत्रमें एक प्रधान भाग था।

अन्तमें कथन यही है कि स्वामीजीने भक्तिकी विशेषता संक्षेपसे परंतु परिपूर्णतासे इस प्रकार कही है—

'राम भगति बिनु सब सुख कैसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे॥'

(ii)—'सेतुबंधरामेश्वर-वर्णन'—यह प्रसंग वाल्मीकीयमें नहीं है। यह अध्यात्मसे लिया गया है। परन्तु स्वामीजीने '**मद्भक्तः शंकरद्वेष्टा मद्द्वेष्टा शंकरप्रियः। तौ नरौ नरकं यातो यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥**' इस पौराणिक श्लोकका ही शब्दतः भाषान्तर करके उसमें अध्यात्मकी अपेक्षा अपनी ओरसे कुछ विशेष बातें मिला दी हैं और परस्पर द्वेष बढ़ानेवाले शैव-वैष्णवोंके कान खोल दिये हैं।

२—बाबू शिवनन्दनसहाय (आरा)—'गोस्वामीजी धन्य हैं कि ऐसे समयमें जब कि अत्याचारियोंका खड्ग चतुर्दिक् चमाचम चमकता हुआ सर्वदा हिंदुओंका विशेषतः तीर्थस्थ हिंदुओंका कलेजा कँपाया करता था, जब मत-मतान्तरके झगड़ोंसे लोगोंकी बुद्धि भ्रमित हो रही थी, जब वैष्णवगण शैवोंसे विरोध करनेहीमें ईश्वरकी प्रसन्नता समझते थे, जब शैव वैष्णवोंसे द्वेष रखनेहीमें अपनी धर्मज्ञता मानते थे, जब रामोपासक तथा कृष्णोपासकमें भी वैमनस्य आ घुसा था और लोग एक-दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे थे, केवल अपनी बुद्धि और लेखनीके बलसे अत्याचारियोंका दर्प चूर्ण और मान मर्दनकर स्वदेशियोंको सच्चे धर्ममार्गमें अटल रखनेका ऐसा दृढ़ तथा प्रबल उद्योग किया जिससे लोग आजतक लाभ उठा रहे हैं, तथा आगे भी उठाते ही जायँगे; क्योंकि गोस्वामीजीके जीवित कालकी अपेक्षा आज उनकी रचनाएँ हिंदूधर्म एवं जगत्पर निश्चय अधिकतर प्रभाव दिखा रही हैं…'।

तत्कालीन मत-मतान्तरकी भभकती हुई ज्वालाको आपने अपने शीतकर उपदेश-सलिलसे ऐसा ठंढा किया कि फिर वह प्रबलरूपसे कदापि प्रज्वलित नहीं होने पायी। रामायणमें जहाँ देखिये वहाँ यही पुकार है कि श्रीराम तथा शिवमें द्वेषबुद्धि नहीं, श्रीशिवजी रामजीको हृदयासनपर बिठाये हुए हैं और कह रहे

हैं—'*रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ*'; '*सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी।*' एवं श्रीरामचन्द्र श्रीरामेश्वरकी स्थापना करते हैं और कह रहे हैं—'*सिव द्रोही मम दास कहावइ। सो जन सपनेहु मोहि न भावइ॥*' श्रीराम तथा शिवमें उन्होंने कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाया है वह इसी आधी चौपाईसे प्रकट है—'*सेवक स्वामि सखा सियपीके।*''' पं० सत्यदेवजीने बहुत ठीक लिखा है कि 'जैसे अङ्किल टाम्सकेबिनका उपन्यास उत्तरीय तथा दक्षिणीय अमेरिकासे हब्शी गुलामोंका वाणिज्य रोकनेका कारण हुआ, जैसे हालहीमें अपूनसिंक्लयरने अपने उपन्यासके बलसे शिकागोके कसाई-घरका सुधार कराया'''वैसे ही गुसाईंजीकी रचनाओंने शैव तथा वैष्णवोंके परस्पर द्रोह एवं रामोपासक तथा कृष्णोपासकके परस्पर वैमनस्य और राग-द्वेषको दूरकर एवं हिंदूधर्मकी श्रेष्ठता पूर्वरूपेण प्रतिपादित कर देशको महान् लाभ पहुँचाया।

३ पं० रामचन्द्र शुक्ल—रामचरितमानसके प्रसादसे उत्तर भारतमें साम्प्रदायिकताका वह उच्छृङ्खलरूप अधिक न ठहरने पाया, जिसने गुजरात आदिमें वर्णके वर्गको वैदिक संस्कारोंसे एकदम विमुख कर दिया था, दक्षिणमें शैवों और वैष्णवोंका घोर द्वन्द्व खड़ा किया था। यहाँकी किसी प्राचीन पुरीमें शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्चीके समान और अलग-अलग बस्तियाँ होनेकी नौबत नहीं आयी। यहाँ शैवों और वैष्णवोंमें मारपीट कभी नहीं होती। यह सब किसके प्रसादसे? भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीके प्रसादसे। उनकी शान्तिप्रदायिनी मनोहर वाणीके प्रभावसे जो सामञ्जस्य-बुद्धि जनतामें आयी, वह अबतक बनी है और जबतक रामचरितमानसका पठन-पाठन रहेगा तबतक बनी रहेगी।

शैवों और वैष्णवोंके विरोधके परिहारका प्रयत्न रामचरितमानसमें स्थान-स्थानपर लक्षित होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके गणेश-खण्डमें शिव हरिमन्त्रके जापक कहे गये हैं, उसके अनुसार उन्होंने शिवजीको रामका सबसे अधिकारी भक्त बनाया, पर साथ ही रामको शिवका उपासक बनाकर गोस्वामीजीने दोनोंका महत्त्व प्रतिपादित किया। रामके मुखारविन्दसे उन्होंने स्पष्ट कहला दिया कि—'*सिवद्रोही मम दास कहावै। सो नर सपनेहु मोहि न भावै॥*' वे कहते हैं कि '*संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास*' मुझे पसंद नहीं।

इस प्रकार गोस्वामीजीने उपासना या भक्तिका केवल कर्म और ज्ञानके साथ ही सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया, बल्कि भिन्न-भिन्न उपास्य देवोंके कारण जो भेद दिखायी पड़ते थे उनका भी एकमें पर्यवसान किया। इसी एक बातसे यह अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव हिंदू-समाजकी रक्षाके लिये उसके स्वरूपको रखनेके लिये कितने महत्त्वका था।

४—अन्य कुछ लोगोंका मत है कि यह कहना कि गोस्वामीजीने शैव-वैष्णव-विरोधके मिटानेके लिये स्थान-स्थानपर श्रीरामजीद्वारा शिव-सम्मान ठूँस-ठूँस दिया है, सर्वथा अनुचित है। शिवजी परम भागवत हैं, यथा—'**वैष्णवानां यथा शम्भुः।**' (भा० १२। १३। १६) उनका घरभर परम वैष्णव है, रामनाम और रामचरितमानसके वे आचार्य हैं। रामनामहीका घरभरको अवलम्ब है, नामहीसे काशीमें मुक्ति देते हैं, ऐसे परम भागवतका भजन-स्मरण यथार्थ ही है। प्रभुका उनका पूजन-स्मरण नरनाट्यमें उचित ही है और यही तो माधुर्य लीला है—यही तो '*सुरहित दनुजबिमोहनकारी*' है। पुनः, ऐश्वर्यमें भगवान् अपने भक्तको भजते हैं, यथा—'*जग जप राम राम जपु जेही।*' जो कुछ गोस्वामीजीने लिखा है उसका प्रमाण ग्रन्थान्तरोंमें पाया जाता है।

५—गौड़जी—सम्प्रदाय-भेदके जैसे झगड़े आज चल रहे हैं, भिन्नरूपसे किंतु उसी प्रकारसे गोस्वामीजीके जन्मके बहुत पहलेसे चल रहे थे। उनके सामने ही काशीजीमें शैवों, वैष्णवों, हिंदुओं, मुसल्मानोंके झगड़े जोरोंपर थे। हिंदू-मुसल्मानोंका झगड़ा किसी हदतक कबीरदासजीने सुलझाया था, परंतु वह अपने गूढ़ पदोंमें, जिनके और भी अर्थ लग सकते हैं, ऐसे भी वाक्य लिख गये जिनसे अवतारवादका खण्डन हो जाता है। साथ ही शैवों-वैष्णवोंका झगड़ा भी नहीं सुलझता। कबीरदासजी हिंदू-शास्त्रोंके पण्डित भी न थे और न हिंदू-मुस्लिम-एकताके लिये पण्डिताई काम आती। उन्होंने युक्तिसे ही राम और रहीमको एक सिद्ध किया।

गोस्वामीजीका जन्म ही इसीलिये हुआ कि वह शैवों, वैष्णवोंके झगड़े सुलझा दें, भगवान् शङ्करके प्रकृत राम-भक्तिदाता-रूपको प्रतिपादित करें और सनातन हिंदू-धर्मकी रक्षा करें तथा अत्यन्त सुलभ और सुगमरूपमें जनताके लिये उसे बोधगम्य कर दें। इन पाँचों कामोंको रामचरितमानसके अवतारने पूरा किया, समय-समयपर लोकसंग्रहके लिये भगवद्विभूतिका आविर्भाव होता ही है। श्रीरामचरितमानसका भी अवतार इसी प्रयोजनसे हुआ।

गोस्वामीजीने समयकी आवश्यकता देखकर अपनी ओरसे शिव-विष्णुकी एकताकी चेष्टामें अनेक प्रमाण और कथाएँ गढ़ी हैं, यह कहना अपने इतिहासों, पुराणों, श्रुतियों और स्मृतियोंकी अनभिज्ञताके सिवा और कुछ नहीं है। एक तो रामचरितमानस स्वयं भगवान् शङ्करकी रचना है, गोस्वामीजीने भाषाबद्धमात्र किया है। दूसरे यह कि उसमें एक भी घटना प्रमाणरहित नहीं है। अनेक स्थलोंपर तो श्लोकोंके अविकल अनुवाद हैं। युगके अनुसार जनताकी शिक्षा और लोकसंग्रहके लिये परमात्मा तदनुकूल उपायोंको अपनी विभूतिके किसी-न-किसी रूपमें प्रकट करता है। कट्टर श्रीसम्प्रदायके उन आचारियोंके लिये जिनकी रसोई त्रिपुण्ड्रके दर्शनसे वा शैवके दर्शनसे उसी तरह अपवित्र हो जाती है, जैसे चाण्डालके दर्शनसे, भगवान्ने अपने श्रीमुखसे कहा है—*'औरउ एक गुपुतमत सबहि कहौं कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥'*

यहाँ भगवान् सबसे *'कर जोरि'* क्यों कहते हैं। प्रभुओंके महाप्रभुके इस अत्यन्त विनम्र वचनका बहुत गम्भीर आशय है। कोई भगवच्छरणागत होकर, भगवद्भजन करके अथवा अन्य प्रकारसे योग, यज्ञ, तप, जप करके मुक्ति या मोक्ष अथवा कैवल्यपदतक भले ही पा जाय, परंतु बिना भगवान् शङ्करके भजनके भगवान्‌की भक्ति नहीं पा सकता। भक्तिके पाँचों रसोंके परमदेवता, आचार्य और आदर्श भगवान् शङ्कर हैं। प्रत्युत वास्तवमें स्वयं परात्पर भगवान्ने शङ्कररूपसे भक्तिके पाँचों रूपोंका आदर्श दिखानेके लिये अवतार लिया है। शृङ्गाररसको शिव-शक्तिरूपमें, शान्तरसको महायोगीश्वर शङ्करके रूपमें, वात्सल्यरसको जगत्पिता-माता गिरिजा-परमेश्वर तथा वत्स और कुमारके रूपमें, सख्य और दास्यको पवनसुतके रूपमें प्रकट किया है। इन रूपोंमेंसे प्रत्येकमें रामनाम और रामरूपकी भक्तिकी पराकाष्ठा दिखा दी है। नारदविमोहके प्रसङ्गमें श्रीमुखसे कहते हैं—*'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे॥ जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥ अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहि माया नियराई॥'* भगवान् शङ्करकी नेक सलाह भगवान् नारदने नहीं मानी थी। उसीका दण्ड था। भुशुण्डिके शापानुग्रहपर भगवान् शङ्कर क्या कहते हैं—*'रघुपतिपुरी जन्म तव भएऊ। पुनि तइँ मम सेवा मन दएऊ॥ पुरी प्रभाउ अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥'*

अपने स्वरूपकी प्राप्ति मोक्षमें भी है और भक्तिमें भी। परंतु मोक्ष तो बन्धनसे अलग होकर ही सम्भव है। भगवान्‌की लीलासे अलग होकर ही सम्भव है। परंतु भक्तिमणिमें भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित रहते हुए स्वरूपकी प्राप्ति है। इस अनमोल मणिके खजान्ची भगवान् शङ्कर ही जगद्गुरु, जगत्-जनक-जननी, जगदात्मा हैं। रामचरितमानस शैवों, वैष्णवों, शाक्तों, सौरों, गाणपत्यों अर्थात् समस्त सम्प्रदायोंके भारी भ्रमके परदेको हटानेके लिये अवतरित हुआ। इसमें शिव और रामकी एकता किसी रियायतसे या किसी कूटनीतिसे नहीं रखी गयी है। जो भ्रमोच्छेदक परम सत्य है वही दिखाया गया है। भगवान् हाथ जोड़कर बड़ी नम्रतासे भक्तोंके इस सुरक्षित भ्रमके परदेको फाड़ते हैं। इस भगवद्वचनामृतके सिवा जगह-जगहपर भगवान् शङ्करकी कृपाकी मानसभरमें चर्चा भरी पड़ी है। *'ईसप्रसाद' 'शम्भुप्रसाद' 'भए ईस अनुकूल'* इत्यादि यत्र-तत्र इसीकी घोषणा करते हैं। आरम्भमें भवानी-शङ्करकी वन्दनामें ही कहा है—**'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।'** रामचरितमानसका यह खास उद्देश्य है कि भक्ति-मणिके खजान्चीका ठीक पता बताये। 'रुद्रसम्प्रदाय' के वैष्णव वल्लभाचार्यजी महाप्रभु गोस्वामीजीके समकालीन थे। उनके तो साम्प्रदायिक मूल परमाचार्य भगवान् शङ्कर ही हैं। उनका मत भी यही है। परंतु गोस्वामीजीके तो *'गुर-*

पितु मातु' महेश-भवानी थे। मानस उन्होंने उन्हींसे पाया और मानसके प्रतिपाद्य विषय भी भगवान् शङ्करके ही हैं।

६—रघुकुलके कुल-इष्टदेव श्रीरङ्गभगवान् थे, यह *'निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना।'* से स्पष्ट है। (१। २०१। २) देखिये। साथ ही पञ्चदेवोंकी आराधना भी गोस्वामीजीके मतसे पायी जाती है। श्रीदशरथमहाराजके सम्बन्धमें मानसमें ये वचन हैं—*'इन्ह सम काहु न सिव अवराधे।'* (१।३१०।२)*'सुमिरि गजानन कीन्ह पयाना।'* (१। ३३९। ८) इत्यादि। श्रीभरतजीका भी शिवपूजन करना कहा गया है, यथा—*'सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना।'* (१५७। ७) दोनोंका महादेवजीको संकटके समय मनाना भी कहा है, यथा—*'सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥ आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जनु जानी॥'* (४४। ७-८)।""', *'मागहिं हृदय महेस मनाई।'* (१५७। ८)

मानसमें प्राय: जो-जो विशेषण ब्रह्म, व्यापक, अन्तर्यामी आदि श्रीरामजीके लिये आये हैं वे सब विशेषण श्रीशङ्करजीके लिये भी आये हैं। केवल एक ही भेद मानसमें मिलता है। वह है यह कि शङ्करजी सतीजीका चरित ध्यान धरनेपर ही जान सके और श्रीरामजीने स्वत: जान लिया। जैसा, *'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥'* (१। ५६। ४) तथा *'सती कपट जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब अंतरजामी॥'* (१। ५३। ३) ब्रह्म और भगवत्कृपाप्राप्त सिद्ध जीवोंमें भेद है। विशेष बालकाण्ड (५६ (४), ५३ (३), ५८ (८)) में देखिये।

श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि *'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय सो मत रामहि देहु।'* (२। ४४) इन वचनोंसे शिवजीका कुल-इष्टदेव होना सिद्ध होता है, क्योंकि हर एक उपासक अपने इष्टदेवको ही ईश्वर, अन्तर्यामी, उरप्रेरक मानता है। शङ्करजीकी साक्षी देना भी यही सिद्ध करता है। वे लिखते हैं कि 'शैव-वैष्णवादिका झगड़ा मिटानेके लिये श्रीमद्गोस्वामीजीने शिवभक्तिका वर्णन किया, ऐसा मानना बड़ी भूल है। इससे तो गोसाईंजीपर दाम्भिकताका ही आरोप होगा।'

नोट—२ *'सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी।""तोरी'* इति। ऐसा ही वाल्मीकीयमें कहा है—**'मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता। वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत्॥'** (२। ५२। ८२)।""**'चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने। भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति॥ ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता। यक्ष्ये प्रमुदिता गङ्गे सर्वकामसमृद्धिनी॥'** (८४-८५)""' अर्थात् गङ्गाके बीचमें आकर सुन्दरी वैदेहीने हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे यह कहा—चौदह वर्ष वनवासमें पूरे करके भाई और मेरे सहित ये पुनः लौटेंगे। उस समय कुशलपूर्वक लौटी हुई मैं सब मनोरथोंके पूर्ण होनेसे प्रसन्नतापूर्वक आपकी पूजा करूँगी। (ख) वाल्मीकीयमें ये वचन गङ्गापार होते समय बीच धारामें पहुँचनेके समय वे कहने लगीं और उस तटपर नावके पहुँचनेतक कहे गये हैं। श्लोक ८२ से ९१ तक उनके वचन हैं। मानसमें पार उतरनेके पश्चात् यह विनती की गयी है। (ग) सीताजीने लङ्कासे लौटकर पूजा की है, यथा—*'सुरसरि नाँघि जान तब आयो। उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो॥ तब सीता पूजी सुरसरी। बहुप्रकार पुनि चरनन्हि परी॥'* (६। १२०। ७-८) और गङ्गाजीने आसिष भी दिया है—*'दीन्हि असीस मुदित मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा॥'*

नोट—३ *'सुनि सिय बिनय प्रेमरस सानी।""'* इति। इससे सूचित किया कि जब प्रार्थना प्रेमयुक्त होती है तब देवता उससे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं। बालकाण्डमें गौरीजी भी *'बिनय प्रेमबस'* होनेपर बोली थीं, वैसे ही यहाँ गङ्गाजी बोलीं। ऐसे ही ब्रह्माजीकी प्रेमभरी स्तुति सुननेपर *'गगन गिरा'* हुई थी—*'जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह। गगन गिरा गंभीर भइ""॥'* वैसे ही यहाँ भी प्रेमयुक्त विनय सुननेपर *'बिमल बारि बर बानी'* हुई। वीर कविजी लिखते हैं कि 'जलके जीभ नहीं है जो बोल सके। बिना जिह्वाके सुन्दर वाणीका रंजित होना 'प्रथम विशेष' अलङ्कार है।' यहाँ *'बिमल बारि""'* से नदीके अभिमानी देवताका बोलना समझना चाहिये।

सुनु रघुबीर-प्रिया बैदेही। तव प्रभाउ जग बिदित न केही॥५॥
लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥६॥
तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥७॥
तदपि देबि मइँ देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥८॥
दो०—प्राननाथ देवर सहित कुसल कोसला आइ।
पूजिहि सब मन-कामना सुजसु रहिहि जग छाइ॥१०३॥

अर्थ—हे रघुवीर श्रीरामजीकी प्रिया! हे विदेहनन्दिनी! सुनो। आपका प्रभाव संसारमें किसे नहीं मालूम है? ॥५॥ आपकी कृपा-दृष्टिसे लोग लोकपाल बन जाते हैं। सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े आपकी सेवा करती हैं* ॥६॥ आपने जो हमें बड़ी विनती सुनायी, यह कृपा की, मुझको बड़ाई दी॥७॥ तो भी, हे देवि! मैं अपनी वाणी (वाग्देवी) के सफल होनेके लिये आपको आशीर्वाद दूँगी॥८॥ प्राणपति और देवरसहित कुशलपूर्वक अवध लौटो, आपके सब मनोरथ पूरे होंगे, जगत्‌में सुन्दर यश रहेगा॥१०३॥

नोट—१ *'रघुबीर-प्रिया बैदेही'* का भाव कि वीरोंकी स्त्रियोंको किसी प्रकार विघ्नका भय नहीं रहता और तुम तो रघुवीरकी प्रिया हो, तुमको भय और विघ्न कैसा और कहाँ? (रा० च० मिश्र) रघुवीर तो शरणागतमात्रको अभय करनेवाले हैं—*'त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर।'* (५।४५) *'रघुबीर करुना सिंधु आरतबंधु जनरक्षक हरे।'* (६।८१) **'आपन्नानां परागतिः' 'आर्तानां संश्रयश्चैव'**, (यह वाल्मी० ४।१५ में ताराने बालिसे कहा है) इत्यादि। और आपकी सकुशल लौटनेकी विनय तो केवल मुझे बड़ाई देनेके लिये है। पुनः *'रघुबीर-प्रिया'* का भाव कि जिस धनुषने रावणादिका दर्पदलन किया था उसको अपने पराक्रमसे जिन्होंने सहजहीमें तोड़ डाला था उनकी आप प्रिया हैं। तब सकुशल लौटनेमें सन्देह ही क्या? आपने जो विनय की वह केवल मुझे बड़ाई देनेके लिये कि गङ्गाके आशीर्वादसे सब सकुशल लौटे।

नोट—२ (क) *'रघुबीर-प्रिया'* और *'बैदेही'* कहकर *'तव प्रभाउ जगबिदित न केही'* कहनेका भाव कि इन दोनों कारणोंसे आपका प्रभाव संसारमें प्रसिद्ध है। विदेहराजकी अयोनिजा कन्या हो। बाल्यावस्थामें शङ्करजीके धनुषको सहजहीमें आपने उठाकर दूसरी जगह रखकर चौका लगाया था इत्यादि। शङ्करजी आपका प्रभाव जानते हैं। उन्हींने प्रभाव जानकर जनकमहाराजसे धनुषको तोड़ना ही आपका शुल्क रखवाया था। विदेहराजका प्रभाव भी प्रसिद्ध है। उन्होंने प्रतिज्ञा करके फिर रावणका भी भय न किया। पुनः *'बैदेही'* सम्बोधनसे यह जनाया कि वे विनय करनेमें इतना प्रेममें मग्न हो गयीं कि देहकी सुध न रही। यह शब्द गिरिजापूजनमें आया है—*'अस कहि चरन गहे बैदेही।'* (१।२३६।४) गङ्गाजी शिवशक्ति हैं, देवी हैं, अतः ये भी प्रभाव जानती हैं। (ख) क्या प्रभाव जानती हैं वह आगे वे स्वयं कहती हैं—*'लोकप होहिं…।'* और भी प्रभाव जो अन्यत्र कहा गया है, जैसे *'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई।'* (१।१४८) *'परम सक्ति समेत अवतरिहौं।'* (१।१८७) *'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा…।'* (७।२४) इत्यादि, वह सब इसमें आ जाता है। (ग) *'लोकप होहिं बिलोकत तोरें'* अर्थात् कंगालको कृपाकटाक्षमात्रसे इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि बना देती हो। ब्रह्मादि देवता और उनकी शक्तियाँ आपकी वन्दना करती हैं और इन्द्रादि समस्त लोकपाल आपके कृपाकटाक्षकी चाह किया करते हैं, यथा—*'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ।'* (७।२४) (घ) *'तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें'* इति। यथा—*'जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई॥ हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप पहुनई करन पठाई॥ सिधि सब सिय आयसु अकनि गईं जहाँ जनवास।'* (१।३०६)

* अर्थान्तर—जो तेरी सेवा करते हैं, उनके लिये सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं—(पं०)।

नोट—३ *'तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई।'''* इति। (क) हमको बड़ी विनय सुनायी यह हमपर कृपा की। भाव कि जिसके अवलोकनमात्रसे इन्द्र, वरुण, कुबेर होते हैं, उसने हमारी विनती की तो यह कृपा नहीं तो और क्या है? इससे हमको बड़प्पन दिया। लोग कहेंगे कि सीताजी सर्वेश्वरीने भी गङ्गाकी पूजा और विनती की थी। (ख) ***'हमहिं बड़ि बिनय सुनाई', 'मोहि दीन्हि बड़ाई'***—पूज्य कविका सँभाल देखिये। विनती बड़ेसे की जाती है, अतः गङ्गाजीके मुखसे विनय सुनानेके सम्बन्धसे ***'हमहिं'*** शब्द कहलाया और कृपा छोटोंपर होती है, अतः ***'कृपा कीन्हि' 'बड़ाई दीन्हि'*** के साथ अपने लिये ***'मोहि'*** का प्रयोग कराया। ***'हमहिं'*** बहुवचन बड़प्पनका सूचक है और ***'मोहि'*** एकवचन लघुतासूचक सर्वनाम है और छोटा भी है।

नोट—४ ***'तदपि देबि मैं देबि असीसा।'''बागीसा'*** इति। (क) अर्थात् आपने माधुर्यमें व्यावहारिक दृष्टिसे देवता मानकर मेरी विनती की; इसलिये मैं असीस देती हूँ और पूर्वोक्तिके अनुसार आपको सर्वेश्वरी जानकर अपनी वाणीकी सफलताके लिये आशीर्वाद देती हूँ। पहले तो कहा कि ***'मैं देबि'*** अर्थात् एक वचन देकर अपनी लघुता दिखायी और फिर ***'बागीसा'*** महत्त्वसूचक पद दिया। इसका कारण एक तो यह है कि छंद-हेतु ऐसा हुआ। दूसरे गङ्गाजीका आशय यह है कि ईश्वरके यशमें जो वाणी प्रवृत्त हो वही सब वाणियोंकी ईश्वरी होती है। (पं०) (ख) ***'सफल होन हित निज बागीसा'*** अर्थात् आप सब सकुशल तो लौटेंगी ही, पर मेरे आशीर्वाद देनेसे लोग कहेंगे कि गङ्गाजीके आशीर्वादसे सकुशल लौट आयीं। देखिये, वात्सल्यमें डूबी हुई माताओं और पिताने जहाँ-तहाँ श्रीरामजीके अद्भुत कार्य सुनकर उनका समाधान ऐसे ही किया है, यथा—***'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥'*** (१। ३५७। १) ***'सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥'*** (१। ३५७। ६) (पु० रा० कु०)

नोट—५ ***'प्राननाथ देवर'''*** इति। (क) ***'प्राननाथ'*** से यह भी जनाया कि तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा ये करेंगे। शूर्पणखासे रक्षा की। मुद्रिका भेजकर लंकामें रक्षा की है। ***'देवर'*** शब्द जो श्रीसीताजीने कहा था वही इन्होंने कहा, नाम न लिया। (ख) ***'पूजिहि सब मन कामना'—'सब'*** से जनाया कि इस कामनाके अतिरिक्त और भी हैं, जैसे कि राक्षसोंका उद्धार, हनुमान्‌जीको भक्ति, सुग्रीव और विभीषणको राज्य, मगवासिनी पुण्यात्माओंको दर्शन प्रदान और देवाङ्गनाओं, देवताओं आदिके दुःखहरण इत्यादि। (ग) ***'सुजसु रहिहि जग छाइ'***—संसारमें यश होगा। यथा—***'रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥'*** (७। २। ५) ***'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥'*** (गी० ७। १३) ***'गावत गुन सुर मुनि बर बानी।'*** (१। २५)

गंगबचन सुनि मंगलमूला। मुदित सीय सुरसरि अनुकूला॥ १॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुखु भा उर दाहू॥ २॥

अर्थ—गङ्गाजीके मङ्गल उत्पन्न करनेवाले अर्थात् माङ्गलिक वचन सुनकर और देवनदी गङ्गाजीके अनुकूल (अपने ऊपर प्रसन्न) होनेसे सीताजी आनन्दित हुईं॥ १॥ तब प्रभु रामचन्द्रजीने गुहसे कहा कि घर जाओ। यह सुनकर उसका मुँह सूख गया और उसके हृदयमें जलन होने लगी अर्थात् उसको लौटनेके नामसे बड़ा शोक हुआ॥ २॥

नोट—१ *'गंग बचन'''* इति। देवतओंके आशीर्वाद सत्य होते हैं, अतएव उससे प्रसन्नता होती ही है। इसी तरह गौरीकी असीस ***'पूजिहि मन कामना तुम्हारी।'*** (१। २३६। ७) सुनकर ***'सिय सहित हिय हरषीं अली।'''मुदित मनमंदिर चलीं॥'*** श्रीभरतजी *'तनु पुलकेउ हिय हरषु सुनि बेनि बचन अनुकूल।'* (२०५) माताएँ भी आशीर्वादको प्रसन्नतापूर्वक अञ्चल पसारकर ग्रहण करती हैं, यथा—***'अंतर हित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥'*** (१। ३५१। ३) इस प्रमाणसे यह भी भाव ले सकते हैं कि आशीर्वाद देनेके समय श्रीजानकीजी उसे अञ्चल पसारकर ले रही हैं।

नोट—२ *'तब प्रभु गुहहिं'''* इति। निषादराजके गुरु (श्रीलक्ष्मणजी) की भी यही दशा हुई। यथा—*'रहहु*

तात असि नीति बिचारी। सुनत लखन भए ब्याकुल भारी॥ सिअरे बचन सूखि गए कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥' (७१। ७-८) यही सब भाव निषादराजमें उत्पन्न हो गये। (प० प० प्र०)

गौड़जी—इस प्रकरणसे और केवटको बिदा करनेके प्रसंगको मिलानेसे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि यहाँ 'गुह' निषादोंका वा केवटोंका राजा है और वह केवटमात्र था। केवट और गुह निषाद दो अलग-अलग व्यक्ति हैं।

दीन बचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुल मनि मोरी॥ ३॥
नाथ साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरन सेवकाई॥ ४॥
जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥ ५॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहौं रघुबीर दोहाई॥ ६॥

अर्थ—गुह हाथ जोड़कर दीनताके वचन बोला—हे रघुकुलशिरोमणि! मेरी विनती सुनिये॥ ३॥ मैं स्वामीके (आपके) साथ रहकर रास्ता दिखाकर चार (अर्थात् कुछ) दिन आपके चरणोंकी सेवा करके॥ ४॥ हे रघुराई! जिस वनमें आप जाकर रहेंगे वहाँ मैं सुन्दर पर्णकुटी बनाऊँगा॥ ५॥ हे रघुवीर! मैं आपकी कसम खाकर कहता हूँ कि तब मुझे आप जैसी आज्ञा देंगे मैं वैसा ही करूँगा॥ ६॥

नोट—(क) *'रघुकुल मनि'* का भाव कि रघुकुल सदा दीनोंकी विनती सुनता आया है और आप तो सबमें श्रेष्ठ हैं। (रा० मिश्र) अथवा, रघुकुलश्रेष्ठ होनेसे आपको वनमें प्रवास करनेका अभ्यास नहीं है और न आपका शरीर पर्णकुटी बनाने इत्यादिका कष्ट सहन करनेयोग्य है, अतः मैं जो विनती करता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये। *'नाथ साथ रहि'* से जनाया है कि १४ वर्ष बराबर साथ रहनेकी इच्छा है। यह *'पुनि गुह ग्याति बोलि सब लीन्हे। करि परितोषु बिदा तब कीन्हे॥'* से कविने सूचित किया है। (प० प० प्र०) (अ० रा० में स्पष्ट ही **'गमिष्यामि त्वया सह। अनुज्ञां देहि राजेन्द्र'''** (२। ६। २४) कहा है। मानस-कल्पके गुहने सम्भव है कि रुख ले जानेका न देखकर, इतना कहकर तब *'दिन चारि'* कह दिया कि जितने दिन साथ हो जाय उतने ही सही)। (ख) *'पंथु देखाई'*—भाव कि वनकी सँकड़ी बीहड़ गलियोंमें भूलने-भटकनेका डर है, हमारा दिन-रातका सब देखा है, अतः रास्ता बतानेके लिये साथ ले चलिये।

नोट—२ *'चारि दिन'*—मुहावरा है। 'कुछ दिन'। पर गुहको वस्तुतः चार ही दिन श्रीरामजीने साथ रखा, जैसा प्रसंगसे स्पष्ट होता है। प्रथम दिन *'तेहि दिन भएउ बिटप तर बासू।'* (१०५। १) दूसरे दिन—*'प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराज दीख प्रभु जाई॥'* (१०५। २) *'''''राम कीन्ह बिश्राम निसि॥'* (१०८) तीसरे दिन, *'प्रात प्रयाग नहाइ। चले सहित सिय लखन जन, मुदित मुनिहि सिरु नाइ॥'* (१०८) *'''''उतरि नहाए जमुनजल॥'* (१०९) उस दिन यमुना-तीर रहे, इसीसे भरतजीने भी वहाँ निवास किया। चौथे दिन गुहको बिदा किया। पुनः, 'चार दिन' कहा, क्योंकि अधिक दिनतक साथ रहनेको कहते तो रघुनाथजी साथ ले जानेको राजी न होते। अ० रा० के गुहने सदा साथका हठ किया था,—**'गमिष्यामि त्वया सह। अनुज्ञां देहि राजेन्द्र नो चेत्प्राणांस्त्यजाम्यहम्॥'** (२। ६। २४) अर्थात् यदि साथ चलनेकी आज्ञा न देंगे तो प्राण त्याग दूँगा। तभी तो श्रीरघुनाथजीने वहींसे बिदा कर दिया था।

नोट—३ (क) *'परनकुटी मैं करबि सुहाई'* से जनाया कि मैं इस कार्यमें बड़ा कुशल हूँ। (ख) 'तब' अर्थात् जब आप पर्णकुटीमें कुछ कालके लिये स्थायी हो जायँगे। यह गुहका आन्तरिक आशय जान पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि रघुनाथजीका रुख साथ ले जानेका अबतक उसने न पाया, तब उसने कसम खायी कि मैं उस समय हठ न करूँगा, जो आज्ञा होगी उसका पालन करूँगा। (ग) *'जस देब रजाई'*—यहाँ भी वह लौटनेकी बात नहीं कहता। इतना ही कहता है कि जैसी आज्ञा होगी वैसा करूँगा। कारण कि उसे अब भी आशा है कि श्रीरघुनाथजी उसे साथमें रहने देंगे। इसीसे उसने रघुकुलमणि, रघुराई आदि महाराजैश्वर्यसूचक शब्दोंका ही प्रयोग किया है। (प० प० प्र०) (घ) *'रघुबीर दोहाई'*—लक्ष्मणजीने

जब मेघनाद-वधकी प्रतिज्ञा की है तब ये ही शब्द कहे हैं—'*जौं सत संकर करहि सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई॥*'

सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥७॥
पुनि गुह ग्याति बोलि सब लीन्हे। करि परितोषु बिदा तब कीन्हे॥८॥
दो०—तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा अनुज सिय सहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ॥१०४॥
तेहि दिन भएउ बिटप तर बासू। लषन सखा सब कीन्ह सुपासू॥१॥

शब्दार्थ—**सुपासू** (सं० सुपार्श्व)=सुविधा, सुख। **ग्याति** (ज्ञाति)=जातिके लोग, सम्बन्धी, बान्धवगण, भाई=बन्धु, घरके लोग।

अर्थ—गुहका स्वाभाविक प्रेम देखकर श्रीरामचन्द्रजीने उसको साथ ले लिया, जिससे गुहके हृदयमें बड़ा आनन्द हुआ॥७॥ फिर गुहके वा, गुहने अपनी जातिके सब लोगोंको बुला लिया और उनका अच्छी तरह संतोष करके तब उनको बिदा किया॥८॥ तब प्रभु श्रीरघुनाथजी गणेशजी और शिवजीका स्मरण और गङ्गाजीको माथा नवाकर सखा, भाई और सीताजीके सहित वनको चले॥१०४॥ उस दिन पेड़के नीचे निवास हुआ अर्थात् ठहरे, लक्ष्मणजी और सखाने सब सुखका सामान किया॥१॥

नोट—१ (क) '*सहज सनेह बिबस रघुराई*' यह उनका स्वभाव ही है, अत: स्वभावसे विवश होकर साथ ले लिया। (प० प० प्र०) (ख) स्नेह भीतरका है, इसको लखनेके सम्बन्धसे 'राम' पद दिया। '*हृदय हुलासू*'—घर लौटनेकी आज्ञा सुनकर मुँह सूख गया था और हृदयमें संताप हुआ था। वह संताप मिटा और अब दाहके स्थानपर हर्ष और आनन्द हुआ। प्रथम 'दाह' कहा था, इससे अब उल्लास होना कहा।

नोट २—'*गुह ग्याति बोलि सब लीन्हें।*''' इति। इससे जान पड़ता है कि बन्धुवर्गको संदेह था कि 'यह सखा है, कहीं १४ वर्षतक साथ न रह जाय, अतएव उनको संतोष दिया कि कुछ दिनमें ही लौट आवेंगे। पुन: इस प्रकार समझाया कि ये हमारे चक्रवर्ती महाराजके पुत्र हैं, इनकी सेवासे हम सबका भला होगा। (पु० रा० कु०; पंजाबीजी) यह गुहका समझाना हुआ और यदि रामजीका उन लोगोंको बुला-बुलाकर परितोष करना कहें तो यह होगा कि चिन्ता न करो ये चार दिनके लिये साथ जाते हैं, चार ही दिनमें लौट आवेंगे। इत्यादि। (ख) यदि गुहके मनमें दो-चार दिन ही साथ रहनेका विचार होता तो इस प्रकार बिदा करनेकी आवश्यकता नहीं थी। देखिये, जब श्रीरामजी १४ वर्ष प्रवासका निश्चय करके निकले तब उन्होंने सब लोगोंका ऐसा ही 'परितोष' किया है। यथा—'*मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥*' (चले। १६६।१-२) इससे जान पड़ता है कि मनमें उसके सदा साथ रहनेकी थी। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ '*तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु*''' इति। (क) 'प्रभु' अर्थात् आप समर्थ हैं तब भी आप गणेश और शिवको सुमिरकर चले—लोकशिक्षार्थ ऐसा किया। (ख) गणेश और शिवका स्मरण करना और गङ्गाको प्रणाम करना लिखा; क्योंकि शिवजी और गणेशजी प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनका मानसिक स्मरण ही हो सकता है और गङ्गाजी सामने हैं, इससे उनको प्रणाम उचित ही है। (ग) 'वनगमन' में 'रघुनाथ' पद दिया; क्योंकि इसीसे रघुकुल सनाथ होगा, उसका सुयश सदैवके लिये स्थापित होगा, पिताका सत्य रह जायगा। (घ) वनगमनमें सबको साथ कहा, गणेशादिके स्मरण इत्यादिमें साथ न कहा। क्योंकि वे तो रामानन्य हैं। अथवा, दीपदेहलीन्यायसे '*सखा अनुज सिय सहित*' को दोनों ओर ले लें।

वि० त्रि०—शिवजीकी दो शक्तियाँ हैं—(१) उमा और (२) गङ्गा। सरकार जब घरसे चले तब गनपति, गौरि, गिरीशको मनाया। मनाना इसलिये कहते हैं कि तीनोंमेंसे प्रत्यक्ष कोई नहीं था। अयोध्यासे शृङ्गवेरपुरतककी यात्रा तो मार्गकी यात्रा थी। वनयात्रा तो गङ्गापार जाकर आरम्भ हुई है, अत: फिर गणेशजी

और शिवजीका स्मरण करते हैं और गङ्गा प्रत्यक्ष हैं, अतः उन्हें माथा नवाना लिखते हैं। ज्येष्ठा उमाका मान कर चुके हैं, अब कनिष्ठाका मान भी होना चाहिये। अतः गङ्गाजीको नमस्कार करते हैं। अथवा यहाँसे सीताजी गङ्गाजीका पूजन करके और आशीर्वाद लेकर चली हैं, अतः इन्हींको नमस्कार प्राप्त भी था। गङ्गा और गौरीमें अभेद-दृष्टि होनेसे गौरीके पुनः नमस्कारकी आवश्यकता न रही।

नोट—३ *'सखा लखन सिय सहित गवनु कीन्ह'* इति। सखाका नाम छन्दके लिये प्रथम दिया। अथवा, यह जंगली रास्तेका जाननेवाला है, अतः आगे है इसीसे उसको प्रथम कहा। (पं०) अथवा, सखाको प्रथम कहा,क्योंकि इनको सख्यरस बहुत प्रिय है; इसीसे श्रीमद्रामायणमें श्रीरघुनाथजीने कहा कि—'**मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन**' अर्थात् विभीषण मित्रभावसे प्राप्त हुआ है, हम उसे कदापि न त्याग करेंगे। (रा० प्र०) ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ मार्गमें जिस प्रकार आगे-पीछे चल रहे हैं वह क्रम भी दिखा रहे हैं। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीका वाक्य है कि '**अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु॥' पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन्॥**' (सर्ग ५२। ९५-९६) अर्थात् लक्ष्मण ! तुम आगे चलो और सीता तुम्हारे पीछे-पीछे चलें और मैं सीता और तुम्हारी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे चलूँगा। वाल्मीकीयमें इस स्थलपर ये ही तीन हैं, इसीसे वहाँ गुहका नाम नहीं है। गुहने *'साथ रहि पंथु देखाई'* जो कहा है उसके अनुसार उसका आगे होना निश्चित ही है।

प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥२॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥३॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥४॥
छेत्रु अगम गढ़ु गाढ़ सुहावा। सपनेहुँ नहि प्रतिपच्छिन्ह पावा॥५॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा॥६॥
संगमु सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनि मनु मोहा॥७॥
चवँर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥८॥

दो०—सेवहिं सुकृती साधु सुचि पावहिं सब मन काम।
बंदी बेद पुरान गन कहहिं बिमल गुन ग्राम॥१०५॥

शब्दार्थ—**प्रातकृत**=प्रातःकालकी क्रियाएँ, शौच-स्नान, संध्या-वन्दन आदि। **प्रदेस**=स्थान, स्थल, भूमि, अवयव। **देस**=*'रतन खानि पशु पक्षि वसु वसन सुगंध सुदेश। नदी नगर गढ़ बरनिये भाषा भूषन देश'* (केशवदास)। **प्रतिपच्छि** (प्रतिपक्षिन्)=विरोधी, शत्रु, वैरी।

अर्थ—रघुकुलश्रेष्ठ प्रभु श्रीरामजीने प्रातःकाल ही प्रातःकालकी सब क्रियाएँ करके तीर्थराज प्रयागका जाकर दर्शन किया॥२॥ तीर्थराजका मन्त्री 'सत्य' है, 'श्रद्धा' प्यारी स्त्री है और वेणीमाधव-सरीखा भलाई करनेवाला मित्र है॥३॥ चारों पदार्थ अर्थ, धर्म, काम, मोक्षसे भंडार भरा-पूरा है, वहाँका पुण्य-स्थल ही अत्यन्त सुन्दर देश अर्थात् राजधानी है॥४॥ वहाँकी पुण्य भूमि ही सुन्दर मजबूत और दुर्गम किला है, जिसे शत्रु स्वप्नमें भी नहीं पा सकते। (यहाँ पाप ही शत्रु हैं)॥५॥ सब तीर्थ उसकी श्रेष्ठ वीरोंकी सेना है, जो पापकी सेनाको दल डालनेमें धीर लड़ाका (शूरवीर) है॥६॥ (गङ्गा-यमुना-सरस्वतीका) संगम ही उसका अत्यन्त शोभायमान सिंहासन है, अक्षयवट छत्र है जो मुनियोंके मनको लुभा रहा है॥७॥ यमुनाजी और गङ्गाजीकी तरङ्गें (श्याम-श्वेत) चँवर हैं, जिन्हें देखकर दुःखदरिद्र नष्ट हो जाते हैं॥८॥ पुण्यात्मा और पवित्र साधु उसकी सेवा करते और सब मनोरथ पाते हैं। समस्त वेद-पुराण ही भाट लोग हैं जो उनका निर्मल यश गाते हैं॥१०५॥

टिप्पणी—१ *'प्रात प्रातकृत करि रघुराई।''''प्रभु जाई।'* (क) क्रियाके सम्बन्धसे *'रघुराई'* कहा। पुनः

चलनेके सम्बन्धसे भी *'रघुराई'* कहा—'रंघति गच्छति इति रघुः।' उस रघुकुलके भी ये राई (राजा) हैं; अतएव चल दिये। यथा—*'आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत नियराया॥'* (ख)—प्रयागराज $3\frac{1}{2}$ कोटि तीर्थोंके राजा हैं जिनमें एक-एक करोड़ स्वर्ग, पृथ्वी और पातालमें हैं और ५० लाख वायुमण्डलमें हैं। जैसे वे तीर्थोंके राजा, वैसे ही ये सबके प्रभु हैं, अतः तीर्थराजको देखनेमें 'प्रभु' शब्द दिया।

नोट—१ प्रयागको तीर्थराज अर्थात् तीर्थोंका राजा कहा। राजाके साथ राजाके अङ्ग होने चाहिये; अतएव सावयव (साङ्ग) रूपकालङ्कारद्वारा सब अङ्ग यहाँ कहे गये। राजाके प्रधान सात अङ्ग हैं, यथा—**'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च'** इति (अमरकोश) यहाँ ये सब अङ्ग कहे गये और इनके अतिरिक्त यहाँ पाँच और अङ्ग दिये गये हैं। अर्थात् स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री), सुहृत् (मित्र),कोश (खजाना), राष्ट्र (राज्यमण्डल, देश), दुर्ग (किला) और बल (सेना) ये सप्ताङ्ग हैं। इनके अतिरिक्त जो रानी, दो चँवर, छत्र, सिंहासन और भाटादि अंग यहाँ कहे गये हैं वे राजाके सुखाङ्ग होनेसे कहे गये हैं। (वै०)

नोट—२ *'सचिव सत्य'''* इति। (क) तीर्थराज होनेसे प्रयागजी स्वतः श्रेष्ठ राजाओंमेंसे हैं जो लोक-परलोक दोनोंकी सिद्धि देते हैं। राजाका प्रधान अङ्ग मन्त्री है। यदि अन्य सब अङ्ग नष्ट हो जायँ और एकमात्र यह अङ्ग साथ रहे तो अन्य सब अङ्ग पुनः प्राप्त हो जाते हैं, अतः राजाको कहकर उसके प्रधान अङ्गको प्रथम कहा। मन्त्री श्रेष्ठ होना चाहिये, मुँहदेखी ठकुरसुहाती बोलनेवाला न हो, नहीं तो वह राज्यका नाश ही कर देगा; अतः'सत्य' को मन्त्री कहा। सत्य समस्त सुन्दर सुकृतोंका मूल है। एकमात्र सत्यका ग्रहण किये रहनेसे समस्त सुकृत और गुण प्राप्त हो जाते हैं। इससे जनाया कि तीर्थसेवन करनेवालेको उसका माहात्म्य सत्य जानना चाहिये और वहाँ रहकर सत्य ही बोलना चाहिये। तभी राज्यसे उसको चारों फल प्राप्त हो सकेंगे। (ख) *'श्रद्धा प्रिय नारी'* कहकर सती पतिव्रता पटरानीको श्रद्धा बताया। बैजनाथजीका मत है कि सत्यको मन्त्री कहनेका भाव यह है कि 'मन, वचन, कर्मसे निश्छल होकर वेदकी आज्ञाका पालन करे। हर्षसहित इष्ट व्यापारका ग्रहण श्रद्धा है।' गुरुवाक्य,वेदवाक्य आदिमें विश्वास श्रद्धा है—बाल० मं० श्लो० २ देखिये। श्रद्धाको रानी कहनेका भाव कि माहात्म्य सुनकर तीर्थ-सेवनकी रुचि उत्पन्न करे। (पं०) मन्त्रीको सत्य कहा, पर यदि श्रद्धा न हुई तब सत्यका ग्रहण कैसे होगा? अतः सत्यको कहकर श्रद्धाको कहा। (ग) *'माधव सरिस मीत हितकारी'* इति। माधव=मा (लक्ष्मी)+धव (पति)=लक्ष्मीपति विष्णु श्रीमन्नारायण। मित्र वही है जो संकटमें काम आवे और अपने और अपने मित्रमें किंचित् भेद न माने। किष्किन्धाकाण्डमें मित्रके लक्षण स्वयं श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे कहे हैं। प० पु० स्वर्गखण्ड अध्याय ४१ में श्रीमार्कण्डेयजीने युधिष्ठिरजीसे बताया है कि भगवान् विष्णु देवताओंके साथ प्रयागके सर्वमान्य मंडलकी रक्षा करते हैं। जिस पदार्थकी उनको आवश्यकता होती है उसे देते हैं। लक्ष्मीपति मित्र हैं, अतः सदा सर्वैश्वर्यसे प्रयागराजको पूर्ण रखते हैं। पंजाबीजी माधवको मित्र कहनेका भाव यह कहते हैं कि जैसे तीर्थ अद्वितीय है, वैसे ही भगवान्‌का दर्शन महान् है।

नोट—३ *'चारि पदारथ भरा भँडारू।'''* इति। (क) लक्ष्मीपतिको हितैषी मित्र कह चुके, अतः कोशको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षसे भरा-पूरा कहा। धन-धान्यादि अर्थ हैं। दया, शौच, सत्य आदि धर्म हैं। स्त्री-पुत्रादिकी कामना काम है। आवागमनसे छुटकारा मिलना मोक्ष है। प्रयागराजके सेवनसे चारोंकी प्राप्ति होती है। लोक और परलोक दोनों बनते हैं। (ख) *'पुन्य प्रदेस देस'''''* इति। पुण्य प्रदेश अर्थात् वहाँका पवित्र स्थल। *'अति चारू'* से जनाया कि धनधान्यसे पूर्ण हराभरा है। (पं०) बैजनाथजी लिखते हैं कि **'प्राभृतं तु प्रदेशनमुपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा इति।'** (अमरकोश) **'अस्यार्थः प्राभृतं प्रदेशनम् उपायनम् उपग्राह्यम् उपहारः उपदा षट् नृपगुर्वादिदर्शनादौ समर्प्यमाणस्य वस्तुनः इति पुण्यप्रदेशः।'** अर्थात् पुण्यदान सुन्दर देश राज्यमण्डल है। पं० पु० में लिखा है कि प्रयागमंडलका विस्तार बीस कोस है। त्रिदेव उस मंडलकी रक्षाके लिये वहाँ उपस्थित रहते हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि क्षेत्रभूमि चालीस कोसकी है।

नोट—४ *'छेत्र अगम'''* इति। (क) क्षेत्र—प्रयागसे लेकर प्रतिष्ठानपुर (झूसी) तक धर्मकी हदसे

लेकर वासुकि ह्रदतक तथा कम्बल और अश्वतर नागोंके स्थान एवं बहुमूलिक नामवाले नागोंका स्थान यह सब प्रजापतिका क्षेत्र है। (प० पु०) बैजनाथजीका मत है कि क्षेत्रभूमि चालीस कोसकी है। *'अगम'* अर्थात् पापरूपी शत्रुकी पहुँच दुर्गम है। वहाँ स्नान करनेसे मनुष्य स्वर्गलोकमें जाते हैं और जिनकी वहाँ मृत्यु होती है, वे फिर जन्म नहीं लेते। अतः उसे सुन्दर दृढ़ किला कहा। पापरूपी शत्रु वहाँ पराजयको प्राप्त होते हैं। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'गङ्गा-यमुनाकी जो रेणुका उड़ती है वही विषम वन है, यही अगमता है। गङ्गा-यमुनाकी धारा ही दृढ़गढ़ धुस है। ठौर-ठौरपर जो घाट हैं वे बुर्ज हैं। रेत परिखा है।—यह सब मिलकर सुन्दर दृढ़ अगम गढ़ है।' (ग) दुर्गम गढ़पर शत्रुका जोर नहीं चलता, वैसे ही प्रयागक्षेत्रमें पापियों वा नरकका बल नहीं चलता। (पं०)

नोट—५ *'सेन सकल तीरथ·····'* इति। (क) प० पु० स्वर्गखण्डमें लिखा है कि नैमिषारण्य, पुष्कर, गोतीर्थ सिंधु-सागरसंगम, कुरुक्षेत्र, गया और गंगासागर तथा और भी बहुतसे तीर्थ एवं पवित्र पर्वत; कुल मिलाकर तीस करोड़ दस हजार तीर्थ प्रयागमें सदा निवास करते हैं। इनके अतिरिक्त हंसप्रपत्तन, कम्बल, अश्वतर आदि अनेक स्वयं वहींके तीर्थ हैं जो सब पापोंके दूर करनेवाले हैं। ये सब श्रेष्ठ वीर हैं। बैजनाथजीका मत है कि 'मथुरा, द्वारका, हरिद्वार, काशी, पुष्कर आदि सब तीर्थ सेना हैं, इनमेंसे जो श्रेष्ठ तीर्थ हैं वे सब मुखिया वीर हैं।' (वै०) पं० रामकुमारजी आदिका मत है कि समस्त तीर्थ श्रेष्ठ वीरोंकी सेना है। *'बर बीरा'* अर्थात् कोई रणसे हटनेवाले नहीं, बिना शत्रुको पराजित किये नहीं हटते, ये वीर अचल हैं और कभी मरते नहीं, इसीसे *'बर बीरा'* कहा। (पु० रा० कु०) (ख) *'संगमु सिंहासनु सुठि सोहा।·····'* इति। गङ्गा, यमुना, सरस्वती इनमेंसे एक-एककी महिमा तो कही नहीं जा सकती तो जहाँ तीनों एकत्र हैं, उसका क्या कहना? इसीसे *'सुठि सोहा'* कहा। जहाँपर ये तीनों मिली हैं वहींपर तीर्थराज अर्थात् उनके अभिमानी देवता विराजते हैं। राजाके सिंहासनतक पहुँचनेकी अवधि है। भाव यह है कि संगमपर स्नान करना चाहिये, वहाँ स्नान करना यही तीर्थराजतक पहुँचना है। (पं० रा० कु०)

टिप्पणी—२ अक्षयवट छत्र है। जैसे अक्षयवट महाप्रलयमें भी अचल रहता है, कितना ही जल बढ़े वह नहीं डूबता, वैसे ही इस राजाका छत्र कभी भंग नहीं होता। मुनियोंके मनको अक्षयवट मोहित कर लेता है ऐसा अक्षय है। लोमश, मार्कण्डेय आदि चिरंजीवी मुनिके मनको मोहित करनेवाला है। मुनि इसका ध्यान करते हैं, उसकी पूजा करते हैं।

टिप्पणी—३ *'चँवर जमुन अरु गंग तरंगा·····'*। गंगा-यमुना चँवर डुलाती हैं, तरंगें चँवर हैं। गङ्गाजीका जल श्वेत और यमुनाजीका श्याम है, अतः इनकी तरंगें मानो श्वेत-श्याम दो चँवर हैं, एक सुरभी वा सुराके बालोंका, दूसरा मोरपङ्खोंका। (यमुनाजीकी तरंगें दक्षिणमें और गङ्गाजीकी तरंगें वाम दिशामें हैं। इससे दाहिनी ओर श्याम चँवर है और बायीं ओर श्वेत चँवरका ढुलना सूचित किया है। इनके दर्शनसे दुःख-दारिद्र्यरूपी मक्खी-मच्छड़ोंका नाश होता है। वै०)

टिप्पणी ४—*'सेवहिं सुकृती साधु सुचि·····'* इति। गुणवान् लोग राजाकी सेवा करते हैं, गुण दिखाकर अपने मनोरथ सिद्ध करते हैं। यहाँ सुकृती आदि ही गुणी लोग हैं। अर्थात् बड़े पुण्य होते हैं, तब प्रयागराजका सेवन होता है, सब किसीको प्राप्त नहीं है। राजाओंका यश भाट गाते हैं, इनका यश निर्मल है, उसके गान करनेवाले भी वैसे ही हैं।*

नोट—६ इस रूपकमें यह भाव मुख्य है कि जिनके पास सत्य,श्रद्धा और हरिभक्ति नहीं है उनको तीर्थराजके दर्शन और सेवनसे चार पदार्थोंमेंसे एककी भी प्राप्ति न होगी। (पं० प० प्र०) प० पु० स्वर्गखण्डमें भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा है कि '**प्रतिगृहादुपावृत्तः संतुष्टो नियतः शुचिः। अहङ्कारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥अकोपनश्च राजेन्द्र सत्यवादी दृढव्रतः। आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थ-**

* यथा अग्निपुराणे—'तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तः प्रयागके। स्तवनादस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि।' (वै०)

फलमश्नुते॥' (४९। १०-११) अर्थात् जो किसीका दिया हुआ दान नहीं लेता, संतुष्ट रहता, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखता, पवित्र रहता और अहंकारका त्याग कर देता है, जो क्रोधहीन, सत्यवादी, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाला तथा समस्त जीवोंमें आत्मभाव रखनेवाला है वही तीर्थके फलका उपभोग करता है।

को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ॥१॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुखसागर रघुबर सुखु पावा॥२॥
कहि सिय लषनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥३॥
करि प्रनामु देखत बन बागा। कहत महातम अति अनुरागा॥४॥
एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी॥५॥

शब्दार्थ—'**बन बागा**'—जो स्वतः होता है वह वन है और जो लगाया जाता है वह बाग।

अर्थ—पापसमूहरूपी हाथियोंके लिये सिंहरूप* प्रयागका प्रभाव (माहात्म्य, महिमा) कौन कह सकता है? ॥१॥ ऐसे (द्वादशाङ्गसम्पन्न) सुहावने सुन्दर तीर्थराजको देखकर सुखके समुद्र रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीने सुख पाया॥२॥ और, अपने मुखसे तीर्थराजकी बड़ाई श्रीसीता-लक्ष्मणजी और सखासे कहकर सुनायी†॥३॥ प्रणाम करके वन और बागोंको देखते हुए और बड़े प्रेमसे माहात्म्य कहते हुए—इस प्रकार उन्होंने आकर त्रिवेणी अर्थात् जहाँ गङ्गा, यमुना, सरस्वती तीनोंका सङ्गम है उस तीर्थस्थलका‡ दर्शन किया, जो स्मरणमात्रसे सभी सुन्दर मङ्गलोंकी देनेवाली है॥४-५॥

टिप्पणी—१ (क) '*को कहि सकइ*....' अर्थात् जब समस्त वेद-पुराण यश गाते हैं, वे नहीं कह सकते तो और कौन कह सकता है। [पाप-समूहपर हाथियोंके समूहका आरोप किया गया, क्योंकि एक सिंह अनेकों हाथियोंका दलन करनेमें समर्थ होता है। पाप बहुत वैसे ही हाथी बहुत, प्रयागराज एक वैसे ही सिंह एक।] (ख) पूर्व द्वादश अङ्गोंमें भी पाप-फौजका दलन करना कह आये, यथा—'***कलुष अनीक दलन रनधीरा***' और यहाँ फिर कहा। दो बार कहनेका आशय यह है कि प्रथम तीर्थराजकी सेनाका बल दिखाया था और अब जनाते हैं कि राजा स्वयं भी समर्थ हैं; कुछ फौजके ही भरोसे नहीं हैं।

टिप्पणी—२ '***सुखसागर रघुबर सुख पावा***' इति। ऐसा सुन्दर है कि सुखसागरको भी सुख हुआ। अथवा, इससे मत्सर-राहित्य दिखाया। [पुनः, जब सुखसागरको सुख हुआ तो दुःखसागरके लिये तो सुख अनिर्वचनीय होगा—(रा० मिश्र)।] पुनः, '***सुखसागर***' पद यहाँ साभिप्राय है; क्योंकि जो सुखका समुद्र होगा वही उसका यथार्थ अनुभव कर सकेगा, यहाँ परिकराङ्कुर अलङ्कार है—(वीरकवि)। सुखसागरको भी सुख हुआ, यह कहकर उसको परम रमणीक जनाया। यथा—'***परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत।***' (१।२२७) श्रीरामजी सुखसागर हैं ही। यथा—'***चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥***'

टिप्पणी ३—(क) '***कहि सिय***....' इति। भाव कि यहाँ कोई ऋषि-मुनि साथ नहीं हैं जो माहात्म्य

---

* परंपरित रूपक।

† पंजाबीजी—पद्मपुराणमें विष्णुभगवान्‌के वाक्य हैं कि—जो मेरे (वेणीमाधवके) निकट देह त्यागते हैं वे मुझमें प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। जो पितरोंके उद्देश्यसे मेरे समीप श्राद्ध करते हैं उनके पितृगण मेरे लोकको प्राप्त होते हैं। जो लोग माघ मकरमें सूर्योदयसमय इस तीर्थमें स्नान करते हैं उनके दर्शनसे पाप दूर होते हैं।

‡ 'बेनी के कई अर्थ होते हैं—बालोंकी लट, जूड़ा, चोटी, यथा—'कृसतन सीस जटा एक बेनी।' पर यहाँ तीर्थराजके साहचर्यसे त्रिवेणीकी अभिधा है।

कहते, अतएव स्वयं श्रीमुखसे रघुनाथजीने तीनोंका माहात्म्य सुनाया जो पुराणादिमें वर्णित है। (ख) ***'करि प्रनामु'***—तीर्थकी प्रशंसा ही मात्र नहीं की, किंतु अपने आचरण (प्रणाम) द्वारा उसको पुष्ट भी किया। केवल कहते ही नहीं, उसके अनुसार कर्तव्य भी करते हैं। (ग) ***'देखत बन बागा'***—ये वन और बाग प्रयागक्षेत्रके हैं, जो मार्गमें पड़ते हैं। ***'कहत महातम…'*** यह इन वन और बागोंका माहात्म्य है। अथवा, त्रिवेणीका माहात्म्य है जो कह रहे हैं।

टिप्पणी ४—***'एहि बिधि आइ…'*** इति। ये कविके वचन हैं। ***'एहि बिधि'***—अर्थात् जैसा ***'अस तीरथपति देखि सुहावा'*** से ***'कहत महातम अति अनुरागा'*** तक कह आये। ***'सुमिरत सकल सुमंगल देनी'*** यह माहात्म्य है। भाव कि ऐसा माहात्म्य उसका जानकर, कहकर तब उसका दर्शन किया और तब स्नान। यह स्नानकी विधि है।

मुदित नहाइ कीन्हि सिव सेवा। पूजि जथा बिधि तीरथ देवा॥ ६॥
तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए। करत दंडवत मुनि उर लाए॥ ७॥
मुनि मन मोद* न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई॥ ८॥

अर्थ—प्रसन्नतापूर्वक (त्रिवेणीमें) स्नान करके उन्होंने शिवजीकी पूजा की और विधिपूर्वक (अर्थात् जिस तीर्थ-देवकी पूजाका जो विधान, रीति वा नियम है उसी तरह) तीर्थ-देवताओंकी पूजा की॥ ६॥ तीर्थके देवताओंकी पूजाके अनन्तर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी श्रीभरद्वाजजीके निकट आये। दण्डवत्-प्रणाम करते ही मुनिने ठाकुरजीको हृदयसे लगा लिया॥ ७॥ मुनिका मन आनन्द वर्णनातीत है। ऐसा ज्ञात होता है, मानो उन्हें ब्रह्मानन्द-पुञ्ज ही मिल गया हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'मुदित नहाइ…'*** इति। तीर्थस्नान प्रसन्न मनसे करना चाहिये। त्रिवेणी स्नानकी यह एक विधि भी है। यथा—***'देव दनुज किन्नर नर श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी॥' 'मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।'*** (१। ४४। ४, ८ देखिये) शिवपूजासे पार्थिवपूजन ही अभिप्रेत है। ***'पूजि जथा बिधि तीरथ देवा'***—यथाविधि अर्थात् जिस तीर्थदेवताकी पूजाका जो विधान, रीति वा नियम पुराणों आदिमें कहा गया है उसी विधिसे उनकी पूजा की। बेनीमाधव आदि तीर्थदेवता हैं, यथा—'**प्रयागं माधवं सोमं भारद्वाजञ्च वासुकीम्। वन्देऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम्॥**' पंजाबीजीके मतानुसार वेणीमाधव ही तीर्थदेव हैं। (१। २। ११, १। ४४। ५ देखिये)

टिप्पणी—२ भारद्वाज-आश्रम—यह एक ऊँचे टीलेपर है। देखनेसे जान पड़ता है कि कुछ दिन पहले गङ्गा इसके नीचे बहती थीं। इसके पूर्वकी धरती जिसपर अब जार्जटाउन बसा है अब भी तरी कहलाती है और दाराशिकोहके बाँध बननेके पहले एक बड़ा ऊँचा मन्दिर था, जिसके शिखरका दीप एक मुसलमान हाकिमके महलसे देख पड़ता था, इससे तोड़वा दिया गया। अब मुख्य स्थान एक मन्दिर है, जिसमें शिवलिङ्ग स्थापित है और उसीके पास एक गुफा है, जिसमें भरद्वाज और याज्ञवल्क्यकी मूर्तियाँ दिखायी जाती हैं। उसी टीलेपर आश्रमसे पूर्व भरतकुण्ड है, जिसको अब म्यूनिस्पिल्टीने कूड़ेसे पाट दिया है। यह स्थान तीर्थराजका मुख्य तीर्थ है, पर इसकी दशा शोचनीय है। (लाला सीताराम)

भरद्वाज बृहस्पतिके पुत्र, द्रोणाचार्यके पिता और वाल्मीकिजीके शिष्य थे। कथा है कि ये सदेह स्वर्गको प्राप्त हुए। बालकाण्डमें इनकी कथा आयी है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि इन्होंने रामचन्द्रजीको चित्रकूटमें निवास करनेको कहा था। विशेष १। ४४ (१) में देखिये।

टिप्पणी—३-***'तब प्रभु…'*** इति। (क) इससे जनाया कि प्रथम स्नानके पश्चात् पूजनादिसे निवृत्त होकर तब निश्चिन्त होकर महात्माओंका दर्शन करे। (ख) ***'प्रभु'*** और ***'भरद्वाज'*** शब्दोंको साथ-साथ लिखकर जनाया कि भरद्वाजजी जानते हैं कि ये परमात्मा हैं।

* लाला सीतारामने 'मोह' पाठ दिया है—

टिप्पणी—४—'*भरद्वाज पहिं आए*···' इति। '*करत दंडवत*' यह श्रीरामजीने माधुर्य बर्ता, और '*मुनि उर लाए*' यह मुनिने अपना प्रेम दिखाया। पूरी दण्डवत् भी न करने दी, पकड़कर हृदयसे लगा लिया। श्रीरामजीका दण्डवत् करना कहकर श्रीलक्ष्मणजी आदि सबका दण्डवत् करना भी जना दिया। (ख) दण्डवत् करते समय ही उठाना और आशीर्वाद भी देना सूचित करता है कि मुनिके हृदयमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों भावोंका सम्मिश्रण हुआ है। ऐश्वर्यभाव जागृत होनेसे पूरी दण्डवत् नहीं करने दी और माधुर्यके जागृत होनेपर आशीर्वाद दिया।

टिप्पणी-५—'*मुनि मन मोद*···*ब्रह्मानंद रासि जनु पाई*' इति। (क) जिस ब्रह्मानन्दको मुनि प्राप्त थे वही अकथ्य है, सो वह भी इसके आगे एक दानामात्र है। यहाँ प्रभु ऐश्वर्य छिपाये हुए हैं, माधुर्यमें राजकुमाररूप प्रसिद्ध किये हुए हैं, इसीसे '*जनु*' पद देकर उत्प्रेक्षाद्वारा इस रूपमें ब्रह्मकी सम्भावना की है।' (वै०) श्रीजनकमहाराजको भी ऐसा ही अनुभव हुआ था, यह जानकीमङ्गलके '*अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौ गुन दिए॥*' (२५) से स्पष्ट है। (ख) 'अबतक इनके हृदयमें ब्रह्मानन्दमात्र था, किन्तु उसकी राशि नहीं थी, कारण यह कि ब्रह्मानन्द समस्त ब्रह्माण्डोंमें फैला हुआ एकत्र कैसे हो? अब वही फैला हुआ पदार्थ साकार राममें सिमटा हुआ पाया तब राशि कहा, वस्तुतः यह सत्य ही है पर नरनाट्य-लीला-विषय जानकर '*जनु*' उत्प्रेक्षारूपमें कहा।' (रा० च० मिश्र) वा, (ग) मानो पद इसलिये दिया गया कि रामचन्द्रजीका वास्तविक स्वरूप तो परमात्मा ही है, परन्तु तनके मिलापका सुख भी ब्रह्मानन्दके समान हुआ। (पं०) (रामजी ब्रह्मानन्दकी राशि हैं, अतएव यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है।)

वि० त्रि०—'**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥**' दुःखोंमें जिसे उद्वेग नहीं है और सुखकी जिसे लालसा नहीं है, जिसमें राग, भय और क्रोधका सर्वथा अभाव है, ऐसे स्थिरबुद्धि पुरुषको मुनि कहते हैं। ऐसे मुनिके हृदयमें सरकारकी प्राप्तिसे ऐसा मोद हुआ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इष्टप्राप्तिसे ही मोद होता है। उसकी उपमा ब्रह्मानन्दराशिकी प्राप्तिसे दी जा रही है। भाव यह कि ब्रह्मानन्दकी अनुभूति तो सम्भव है, पर ब्रह्मानन्दराशि-प्राप्ति तो बिना अवतारके हो नहीं सकती। यथा—'**यस्यावताररूपाणि समर्चन्ति दिवौकसः। अपश्यन्तः परं रूपं नमस्तस्मै महात्मने॥**' विष्णुपुराणमें कहा गया है कि देवता लोग जिसके अवतारके रूपकी ही पूजा करते हैं, क्योंकि उनका परम रूप आँखोंसे नहीं देखा जा सकता, उस महात्माको नमस्कार है। अवताररूपमें वही आनन्दसिन्धु पिण्डीभूत होकर दर्शन देते हैं, अतः उन्हें ब्रह्मानन्दराशि कहते हैं। मायाद्वारा ही उस रूपका दर्शन होता है, अतः '*जनु पाई*' कहा।

दो०—दीन्हि असीस मुनीस उर अति अनंदु अस जानि।
लोचन गोचर सुकृतफल मनहुँ किये बिधि आनि॥ १०६॥

शब्दार्थ—'**गोचर**'=वह विषय जिसका ज्ञान इन्द्रियोंद्वारा हो सके, वह बात जो इन्द्रियोंद्वारा जानी जा सके; जैसे रूप, रस, गन्ध आदि।

अर्थ—मुनिराजने उनको आशीर्वाद दिया। उनके हृदयमें अत्यन्त आनन्द हुआ—यह जानकर कि (प्रभुके दर्शन क्या हुए) विधाताने हमारे समस्त पुण्योंका फल लाकर नेत्रोंका विषय कर दिया है, अर्थात् नेत्रोंसे उनके फलस्वरूप श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीका दर्शन करा दिया॥ १०६॥

नोट—१ भरद्वाजजीने भरतजीसे कहा है कि '*सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥*' '*बिधि आनि*' कहा; क्योंकि कर्मोंका फल विधाताके अधीन है, जब जिस कर्मका फल चाहें दें। पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि कविके मनमें भी ऐसा आनन्द उमग आया कि यथार्थकी ही उत्प्रेक्षा लिख दी, समस्त सुकृतोंके फल श्रीरामजी हैं ही। २-प्रभुने राजकुमारकी हैसियतसे दण्डवत् की, इसीसे मुनीशकी हैसियतसे आशीर्वाद दिया जाना लिखा।

कुसल प्रस्न करि आसन दीन्हे। पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे॥ १॥
कंद मूल फल अंकुर नीके। दिये आनि मुनि मनहुँ अमीके॥ २॥
सीय लषन जन सहित सुहाये। अति रुचि राम मूल फल खाये॥ ३॥
भये बिगत श्रम रामु सुखारे। भरद्वाज मृदु बचन उचारे॥ ४॥

शब्दार्थ—'**आसन दीन्हे**'-आदर-सत्कारके लिये बैठनेकी वस्तु पीढ़ा, आसनी, मृगछाला, कुशासन आदि रख देना और कहना कि बैठिये।=बैठना। '**कंद**'-वृक्षकी जड़ जिसमेंसे ऊपरको वृक्ष निकलते हैं। '**मूल**'—जो पतले-पतले 'सौर' हैं, इनका कुछ भाग पृथ्वीके चाहे बाहर भी हो सकता है? कंद भीतर भी होता है। '**अंकुर**'-जो प्रथम बीजसे निकलता है, जैसे चना-जौके भिगोनेपर (रा० प्र०)=जिनका मूल थोड़ा हो और जिसके पत्ते पृथ्वीसे बाहर निकलते हैं। (पंजाबीजी) कन्द आदिमें यह कल्पना कि अमृत हैं 'सिद्ध-विषय-हेतूत्प्रेक्षा' है। विशेष दोहा ६२ में देखिये।

अर्थ—क्षेम-कुशल पूछकर मुनिने बैठनेको आसन दिया और प्रेमपूर्वक पूजा करके प्रेमसे प्रभुको संतुष्ट किया॥ १॥ अच्छे-अच्छे कन्द, मूल, फल और अङ्कुर मुनिने लाकर दिये, जो ऐसे अच्छे थे मानो अमृतके ही हों॥ २॥ श्रीसीता-लक्ष्मणजी और अपने भक्त निषादराजके सहित रामचन्द्रजीने बड़े स्वादसे प्रेमपूर्वक सुन्दर मूल-फल खाये॥ ३॥ थकावट दूर होनेसे श्रीरामजी सुखी हुए, तब भरद्वाजमुनिने कोमल वचन कहे॥ ४॥

नोट-१ (क) स्वयं बैठनेके लिये आसन लाकर बिछा देना, स्वयं जाकर फल लाकर देना, यह सब प्रेम और आदर सूचित कर रहे हैं। (ख) *'पूजि प्रेम'''''* (वाल्मी० २। ५४) के '**उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥**' (१७) '**राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः॥**' (१९) (अर्थात् धर्मात्मा भरद्वाजजी मधुपर्कके लिये गौ और अर्घ्यके लिये जल ले आये और श्रीरामचन्द्रजीका स्वागतके द्वारा सत्कार किया), तथा अ० रा० के '**गृहीत्वार्घ्यं च पाद्यं च रामसामीप्यमाययौ।**' (२। ६। ३३) '**दृष्ट्वा रामं यथान्यायं पूजयित्वा सलक्ष्मणम्। आह मे पर्णशालां भो राम राजीवलोचन॥**' (३४) '**आगच्छ पादरजसा पुनीहि रघुनन्दन।'''''**' (अर्थात् अर्घ्य, पाद्य लेकर उन्होंने उनकी विधिवत् पूजा की और कहा कि चरणरजसे मेरी पर्णशालाको पवित्र कीजिये।'''') के सब भाव कह दिये गये। (ग) *'प्रेम परिपूरन कीन्हे'*—प्रेमसे श्रीरामजी विशेष संतुष्ट होते हैं। यथा—*'सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरन काम राम परितोषे॥'* (१। ३४२। ६) देखिये, शबरी भीलिनीके प्रेमसे वे उसके बैरोंसे ही कैसे संतुष्ट हुए—*'लघु भाग भाजन उदधि उमग्यो लाभ सुख चित चायके। सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के॥ प्रेमपट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन बारि।'* (गी० ३। १७)

नोट—२—*'कंद मूल'''अमी के'* इति। वाल्मी० (२। ५४) के '**नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्**' (अर्थात् वनके मूल, फल जो अनेक प्रकारके खाद्य थे। जिनमें अनेक प्रकारके रस थे) से मिलान कीजिये। शबरीजीके प्रसङ्गमें भी कहा है *'दोना रुचिर रचे पूरन कंद मूल फल फूल। अनुपम अमियहुतें।'* (गी० ३। १७) और भरद्वाजजीके मूलादि *'मनहु अमी के'* थे। इस शब्दसे फलादिको बहुत मीठे, रसीले और स्वादिष्ट तथा गुणकारी जनाये।

नोट-३—*'अति रुचि'''* कोई-कोई कहते हैं कि कन्द-मूल-फल अङ्कुरमेंसे केवल मूल और फल ही श्रीरामजीने लिये और शबरीजीके दिये हुए कन्द, मूल, फल सभी लिये और खाये। यहाँ *'अति रुचि'* और वहाँ तो रुचिका वर्णन कुछ किया नहीं जा सका, बारम्बार प्रशंसा कर-करके खाते थे।

नोट-४—*'भये बिगत श्रम राम सुखारे''''*। भाव यह कि ये तो 'राम' हैं जिनमें योगी रमते हैं। इनको तो तीनों कालमें परिश्रम नहीं, पर भक्तोंके लिये परिश्रम आदि व्यवहार भी ग्रहण करते हैं। रामजी सुखी हुए, क्योंकि वे तो प्रेमके भूखे हैं, प्रेमसे कोई पत्र-फूल जो कुछ भी अर्पण करे तो उतनेमें ही सुखी होते हैं। (पु० रा० कु०)